भारत का भूगोल

संसाधन तथा प्रादेशिक विकास

खण्ड 2

(बारहवीं कक्षा के लिए पाठ्य पुस्तक)

कृष्ण लाल जोशी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

आमुख

यह पुस्तक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा ग्यारहवीं तथा बारहवीं कक्षाओं के लिए निर्मित पाठ्यक्रम में दिए गए दृष्टिकोण पर आधारित है। समयाभाव एवं छात्रों की तात्कालिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक के प्रथम दो अध्याय एक पुस्तिका के रूप में हम पहले प्रकाशित कर चुके हैं। शेष अध्याय इस पुस्तक के खण्ड 2 के रूप में प्रस्तुत है। अंग्रेजी में यह पुस्तक सभी अध्यायों के साथ पहले ही प्रकाशित हो चुकी है। दो भागों में प्रकाशित यह पुस्तक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की ओर से निर्मित छः पाठ्य पुस्तकों की शृंखला में अंतिम कड़ी है। पहली पांच पुस्तकों के विपरीत, इस पुस्तक को विभाग में ही तैयार किया गया है। मैं डॉ० कृष्ण लाल जोशी, रीडर, सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूं जिन्होंने इस चुनौतीपूर्ण कार्य को हाथ में लिया और अल्प समय में इसे समाप्त किया। मैं श्री फूल चंद्र शर्मा तथा कुमारी पुष्पा मिश्रा को इस पांडुलिपि के हिन्दी अनुवाद के लिए और श्री मोहसन अमीर को पुस्तक के मानचित्रों एवं रेखाचित्रों के तैयार करने के लिए धन्यवाद देता हूं।

वे सभी विषय विशेषज्ञ और अध्यापक भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक को उपयोगी बनाने में योगदान दिया है। वास्तव में यह हर्ष का विषय है कि पुस्तक के इस प्रथम संस्करण में भी हम कक्षा अध्यापकों, विशेषकर ग्रीष्म संस्थान में भाग लेने वालों से प्राप्त सुझावों को सम्मिलित कर सके हैं।

पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में सुनिश्चित योजना, पुस्तकों के अनुवेक्षण, पुनर्विलोकन और शुद्धिकरण तथा इसे प्रकाशन योग्य अंतिम रूप देने के लिए अत्यधिक कार्यकुशलता तथा परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है इन सब के लिए मैं सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के अपने सहयोगियों, विशेष रूप से प्रो० भालचंद्र सदाशिव पारख और श्रीमती साविता सिन्हा का आभारी हूं।

पाठ्यक्रम निर्माण तथा शिक्षण सामग्री का विकास एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है। अतः अनुभवी अध्यापकों के प्रत्येक सुझाव का सहर्ष स्वागत है। हम इन सुझावों का इस पुस्तक के संशोधित संस्करण में उपयोग करेंगे।

शिव कुमार मित्र
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

अभिस्वीकृति

निम्नांकित लेखकों द्वारा बनाये गये मानचित्रों का प्रयोग इस पुस्तक में किया गया है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

चित्र संख्या 20 से 24 तक :	डा० माजिद हुसैन, एग्रीकलचरल, प्रोडक्टिविटी इन इंडिया, नैशनल ज्योग्राफ़िकल जनरल आफ़ इंडिया, वाराणसी, सितम्बर-दिसम्बर, 1976, में दिये गये मानचित्रों से निर्मित।
चित्र संख्या 26 ख :	बी० एन० सिन्हा, इंडस्ट्रियल ज्योग्राफ़ी आफ़ इंडिया में दिये गये मानचित्र पर आधारित।
चित्र संख्या 35 से 41 तक :	डा० पी० सी० अग्रवाल, ह्यूमैन ज्योग्राफ़ी ऑफ़ बस्तर, में दिये गये मानचित्रों पर आधारित।
चित्र संख्या 42 और 43 :	प्रो० ओ० एच० के० स्पेट तथा प्रो० लरमोन्थ, इंडिया और पाकिस्तान तथा शिरिश ब० पटेल, मेट्रोपोलीटन बंबई, क्येस्ट, मई-जून, 1974 में दिये आरेखों से निर्मित।

विषय-सूची

आमुख

अभिस्वीकृति

मानचित्रों तथा आरेखों की सूची

तालिकाओं की सूची

3. **भारत की प्राकृतिक संपदाएँ**
   भारत की संपदाएँ, एक सामान्य सर्वेक्षण—भूमि—मिट्टियाँ—भूमि उपयोग की प्रवृत्ति—वन—चरागाहें तथा पशुधन—मत्स्य और सागर संपदा—जल—शक्ति संपदा—खनिज संपदा—प्राकृतिक संपदाओं का वर्गीकरण तथा संरक्षण। — 33

4. **भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएँ**
   भूत तथा वर्तमान काल में भारतीय कृषि की स्थिति—आर्द्र तथा शुष्क कृषि के प्रदेश—फसलों की गहनता, शस्यावर्तन तथा फसलों का संमिश्रण—हरित क्रांति—प्रमुख फसलों का प्रादेशिक वितरण। — 54

5. **निर्माण उद्योग**
   निर्माण उद्योग, तब और अब—कृषि पर आधारित तथा हल्के उद्योग—उपभोक्त उद्योग—खनिजों पर आधारित भारी उद्योग—औद्योगिक स्थापना—औद्योगिक समूहकरण—औद्योगिक स्वालम्बन। — 79

6. **भारत में परिवहन व्यवस्था**
   रेल परिवहन के स्वरूपों की मुख्य विशेषताएं—सड़कें—आंतरिक जल मार्ग—बन्दरगाहें—हवाई मार्ग—परिवहन व्यवस्था का विकास—परिवहन व्यवस्था का संगठनात्मक महत्व। — 104

7. **प्रादेशिक विकास**
   (क) प्रदेश तथा उनकी रचना
   परिभाषा तथा आधार—आर्थिक तथा योजना प्रदेश—श्रम का स्थलीय विभाजन—सम्पदा पर आधारित उत्पादन चक्र की संकल्पना—स्थलीय उत्पादन संकुल।
   (ख) आर्थिक प्रादेशीयकरण तथा बहु-स्तरीय योजना : प्रादेशीय असमानता तथा संतुलित प्रादेशीय विकास—बहु-स्तरीय प्रदेश, सिद्धांत तथा वर्गीकरण—विस्तृत प्रदेश, मध्यम स्तरीय प्रदेश, अल्पार्थक प्रदेश। — 119

8. कुछ चुने हुए क्षेत्रों का विशिष्ट अध्ययन

(क) दामोदर घाटी (ख) एक जनजातीय विकास खंड (ग) बम्बई महानगरीय प्रदेश। 145

परिशिष्ट

भारत के प्रमुख औद्योगिक प्रदेश 175

पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के संदर्भ 178

मानचित्रों तथा आरेखों की सूची

खण्ड 1

1. भारत—श्रमिक कुल जनसंख्या के अनुपात में।
2. जनसंख्या का वितरण-1971
3. जनसंख्या का घनत्व-1971
4. नगरीय जनसंख्या का वितरण
5. जनसंख्या वृद्धि
6. भारत में महानगरीय जनसंख्या की वृद्धि
7. स्त्री-पुरुष अनुपात
8. भारत तथा जापान के जनसंख्या पिरेमिड
9. भारत के नगरों में प्रवासी तथा अप्रवासी जनसंख्या के पिरेमिड
10. भारत के प्रवास प्रदेश
11. भारत में खाद्यान्न उत्पादन तथा जनसंख्या वृद्धि

खण्ड 2

12. भारत में भूमि—उपयोग तथा फसलों का स्वरूप
13. भारत में वन-क्षेत्र
14. वास्तविक सिंचित क्षेत्र का वितरण
15. भारत के मुख्य खनिज क्षेत्र
16. भारतीय कृषि के प्रकार
17. भारत में वास्तविक कृषि क्षेत्र
18. भारत में दो—फसली क्षेत्र
19. भारत—मुख्य फसल उत्पादन क्षेत्र
20. भारत में चावल उत्पादिकता
21. भारत में गेहूं उत्पादिकता
22. भारत में गन्ना उत्पादिकता
23. भारत में कपास तथा पटसन
24. भारतीय कृषि की उत्पादिकता
25. भारत—वस्त्र उद्योग के केन्द्र

26. (क) भारत—लोहा-इस्पात और भारी इंजीनियरी उद्योग
26. (ख) हिन्दोस्तान इस्पात कारखाने—अवस्थितियां
27. भारत के प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र
28. भारत—रेल यातायात की अभिगम्यता
29. भारत—प्रमुख महामार्ग
30. भारत के मुख्य बन्दरगाह तथा विदेशी व्यापार
31. भारत में विकास के स्तर
32. भारत का प्रशासनिक विभाजन
33. भारत के योजना प्रदेश
34. दामोदर घाटी प्रदेश
35. बस्तर ज़िले की अवस्थिति तथा भौतिक स्थिति
36. बस्तर—अपवाह तंत्र
37. बस्तर—भू-भाग आकृतिक प्रदेश
38. बस्तर—आर्थिक खनिज तथा शैल
39. बस्तर—जनसंख्या का वितरण, 1971
40. बस्तर—जनजातीय और सांस्कृतिक प्रदेश
41. बस्तर—भविष्य के विकास कार्यक्रम
42. बम्बई—अवस्थिति
43. बम्बई महानगरीय प्रदेश ।

तालिकाओं की सूची

1. कुछ देशों के जनसंख्या सम्बन्धी तथ्य ।
2. भारत में क्षेत्रफल तथा जनसंख्या घनत्व का वितरण ।
3. भारत में जनसंख्या संवृद्धि ।
4. भारत की अनुमानित जन्म व मृत्यु दर ।
5. भारत में स्थानांतरण ।
6. भारत का जनसंख्या प्रक्षेपण ।
7. भारत की मिट्टियां ।
8. भारत में मिट्टी की क्षति ।
9. भारत—घरेलू उत्पादों की वार्षिक वृद्धि दर ।
10. भारत में लोहा-इस्पात कारखानों की स्थितियाँ ।
11. भारत में औद्योगिक श्रमिकों की अनुपातिक प्रादेशीय विशिष्टता ।
12. भारत के योजना प्रदेश ।
    आर्थिक/योजना प्रदेशों के नये सिद्धांत—(अनुबंध) ।
13. दामोदर घाटी में जल-विद्युत ।
14. दामोदर बेसिन के कोयला क्षेत्र ।

अध्याय-3

भारत की प्राकृतिक संपदाएँ

प्राकृतिक संपदाएँ प्रकृति प्रदत्त वह भौतिक पदार्थ हैं, जो हमारी बहुत सी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। आजकल इनकी संकल्पना बहुत विस्तृत हो गई है। यहाँ तक कि प्राकृतिक घटनाएँ तथा पृथ्वी का सम्पूर्ण धरातल, जिसको मनुष्य अपनी कुछ आर्थिक क्रियाओं के लिये प्रयुक्त करता है, 'प्राकृतिक संपदा' में सन्निहित हैं। इसी कारण हमारी मातृभूमि का समस्त भूदर्शन, इसकी जलवायु, बहता हुआ जल तथा झरने, खाड़ियाँ, जलपोताश्रय सहित ज्वारनदमुख, मिट्टियाँ जिन पर हम फसलें उगाते हैं, वन तथा नाना प्रकार के जीव-जन्तु सभी हमारी 'प्राकृतिक संपदा' का आधार बनाते हैं। कृषीय उपजें, वन और चरागाहें, चट्टानें तथा सागर तल जिसमें नाना प्रकार के खनिज होते हैं, जल पर निर्भर जलजन्तु (मछलियाँ व अन्य जीव) और जल शक्ति उत्पादन हमारी आधारभूत संपदा हैं।

ऐसा हो सकता है कि कोई देश अथवा इसका कोई भाग, संभाव्य संपदा में बहुत धनी होते हुए भी, इस संपदा का इस समय कोई उपयोग न कर रहा हो। उत्पादक शक्तियों का विकास करके प्राकृतिक संपदाओं का आर्थिक संपदाओं में परिवर्तित करना, मानव के ज्ञान तथा प्रयासों पर निर्भर करता है। अन्त में इनका शोषण तथा कुशलतापूर्वक उपभोग ही इस सबको (जो कुछ भी प्रकृति ने हमें दिया है), उपयोगिता तथा मूल्य प्रदान करता है।

वनों में अपनी खाद्य सामग्री एकत्रित करने वाला अथवा शिकार करके जीवन यापन करने वाला मानव-समुदाय अथवा चलवासी कृषक समुदाय, उसी क्षेत्र में छिपे खनिजों से अपरिचित होता है और अपनी कृषीय संपदा का गहन उपयोग करने में भी ये लोग अनभिज्ञ हो सकते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक संपदा तभी मूल्यवान तथा महत्त्वपूर्ण होती है जब उसको रखने वाले उस का अपनी आवश्यकता पूर्ति में, समुचित उपयोग करके अपना जीवन स्तर ऊँचा उठाना जानते हों। इससे हम यह आशय निकाल सकते हैं कि प्राकृतिक संपदा की संकल्पना 'संस्कृति आबद्ध' है। खनन का कृषकों के लिये बहुत कम महत्त्व है किन्तु औद्योगिक रूप में विकसित देश के लोगों के जीवन में यह केन्द्रीय-भूत आर्थिक प्रक्रिया है। संयुक्त राज्य अमरीका में विश्व की जनसंख्या की केवल 6% जनसंख्या रहती है, किन्तु यहाँ बहुत विकसित तकनीकी कुशलताओं के कारण, विश्व के समस्त प्राकृतिक भौतिक पदार्थों की वार्षिक खपत का आधे से अधिक प्रयोग में लाया जाता है।

मनुष्य अपने सभी विकसित उपलब्ध साधनों की सहायता से, सुरक्षित संपदा का अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए लगातार प्रकृति से जूझता आ

रहा है। पिछले 25 वर्षों में भारत ने योजनाबद्ध प्रयासों से अपनी फसलों की उपज बढ़ाई है तथा अपने जल और खनिज संपदा का इतना अधिक औद्योगिक उपयोग कर सका है जितना पहले कभी नहीं हुआ था। उदाहरणस्वरूप, चावल की उपज सन् 1955-56 में 847 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से सन् 1967-69 में औसत 1054 और गेहूँ की 708 किलोग्राम से 1173 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर बढ़ी है। किन्तु भूमि की श्रम-उत्पादकता प्रति व्यक्ति उत्पादन के रूप में भी आँकी जाती है। यह श्रमिक उत्पादन अभी भी संयुक्त राज्य अमरीका में बहुत से कारणों से, भारत की अपेक्षा 34 गुणा अधिक है। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि 'प्राकृतिक संपदा' की 'प्रचुरता' अथवा 'कमी' केवल सापेक्षिक पारिभाषिक शब्द हैं, क्योंकि इनका उत्पादन बहुत से तत्त्वों से संबंधित है ? भारत में संपदा का मूल्यांकन यहाँ की इतनी अधिक जनसंख्या तथा इसकी वृद्धि की तीव्र गति के संदर्भ में करना होगा।

किसी देश में यदि कोई आवश्यक पदार्थ पर्याप्त मात्रा में न हो तो आवश्यकता पूर्ति के लिये मनुष्य ने धातुओं, तन्तुओं तथा ईंधन के रासायनिक स्थानापन्नों का निर्माण तथा विकास सम्भव कर दिखाया है। बहुत सी राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति तथा युद्ध के संकट काल में रूस के वैज्ञानिकों ने अपने यहाँ के मरु प्रदेशों में प्राकृतिक रूप में उगने वाले पौधों से रासायनिक रबड़ बनाई थी। जर्मन लोगों ने भी अपने देश में उपलब्ध शैल चट्टान से तेल प्राप्त कर लिया था। संपदा का अभाव इनके क्षेत्रीय वितरण का विस्तार करके भी कम किया है। उदाहरण के लिये, खनिज तेल, प्राकृतिक गैस, कुछ मैंगनीज तथा लौह अयस्क सागर तट से दूर गहरे सागरों से भी प्राप्त किए गये हैं। भारत ने पिछले चार-पांच वर्षों के प्रयास के फलस्वरूप अब प्रतिदिन 1 लाख बेरेल खनिज तेल गहरे 'बम्बई हाई' सागरीय-तल की चट्टानों से प्राप्त करना आरंभ कर दिया है। यह स्थान सागर तट से लगभग 120 किलोमीटर दूर है। शायद भविष्य में बढ़ती हुई भूगर्भ विज्ञान की जानकारी तथा तकनीकी विकास, सागरीय तेल-क्षेत्रों का विस्तार दक्षिण की ओर केरल-लक्षद्वीप मध्य सागरीय क्षेत्रों तक कर सके।

भारत का विस्तृत स्थलीय क्षेत्र बहुत सी प्राकृतिक संपदाओं से सम्पन्न है। ये संपदाएँ आधुनिक विभिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्था को बनाने के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं जिससे लोगों को अनेकों प्रकार के व्यवसायों के चयन के अवसर मिलते हैं। इस समय हमारी जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग केवल कृषि पर (एक प्रमुख भूमि उपयोग के रूप में) निर्भर करता है। कई कारणों से, जिन पर अभी आगे चलकर विचार किया जायेगा, हमारा कृषीय उत्पादन, हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। हमें खाद्यान्नों तथा औद्योगिक कच्चे माल का विदेशों से आयात करना पड़ता है। बहुत से खनिजों में धनी होते हुए भी, हमारे देश में, खनिज तेल, धात्विक तथा अधात्विक खनिजों का, जिनका यहां बहुत अभाव है, आयात तीव्रता से बढ़ रहा है। जनसंख्या के सघन भार तथा अपनी 'प्राकृतिक संपदा' की कम जानकारी के कारण हमारे वनों, मिट्टियों तथा खनिज युक्त चट्टानों जैसी आधारभूत संपदा की हानि हो रही है। फिर भी विश्व के अन्य विकासशील देशों की तुलना में, भारत में बहुत सी मूलभूत अनुसंधान तथा सर्वेक्षण संस्थाएँ हैं जो हमारे देश की संपदाओं को खोज रही है तथा इनके मानचित्र बना रही हैं। पिछली पंच वर्षीय योजनाओं के आरंभिक काल से इनका कार्य बहुत परिश्रम व लगन के साथ हो रहा है।

भारत की संपदाएँ—एक सामान्य सर्वेक्षण

1. भूमि

भारत के भू-क्षेत्र का 43% भाग मैदानी है, 28% भाग पठारी है, तथा 30% से कम भाग में पर्वत तथा पहाड़ियाँ हैं। सब को मिला कर हमारे समस्त भू-क्षेत्रफल का 62% भाग स्थलाकृति के विचार से प्रयोग में आने के लिए उपयुक्त है। विभिन्न प्रकार के भू-आकृतिक प्रदेशों का उपयोग

विभिन्न प्रकार से ही किया जा सकता है।

भारत के अधिकतर भागों में मानसूनी जलवायु की एकता है। यहाँ हिमालय के ऊँचे भागों के सिवा, तापमान सामान्यता सब जगह अधिक रहता है। भारत के अधिकतर भागों में पौधों की वृद्धि वर्ष के किसी समय में भी नहीं रुकती। यहां लगातार गर्मी रहती है तथा शीतकाल में पाला बहुत कम पड़ता है। हमारी मातृभूमि बहुत लम्बे 'वर्धनकाल' का क्षेत्र है, और ऐसे बहुत ही कम भाग हैं जहाँ तापमान कृषि के विकास में बाधक है। हमारे देश के महान उत्तरी मैदानों में बर्फ से जल प्राप्त करने वाली ऐसी नदियाँ बहती है जिनमें सारा वर्ष पानी रहता है। साथ ही यहाँ पर तथा तटीय पट्टी में उर्वरी जलोढ़ कृषि योग्य मिट्टी भी मिलती है। किन्तु जितना अधिक यह देश गर्म है, यहाँ उतनी अधिक खरपतवार, कीट तथा अन्य पीड़क जीवों की वृद्धि है, जो हमारी कृषि को हानि पहुँचाते हैं।

उष्ण प्रदेशों में तापमान से अधिक वर्षा फसलों के उत्पादन की ऋतुएँ निर्धारित करती है। इस दृष्टि से भारत के क्षेत्रफल का 2/3 भाग, 75 सेंटीमीटर से अधिक वार्षिक वर्षा प्राप्त करता है। भारत के क्षेत्रफल का केवल 2% भाग ऐसा है जो 250 सेंटीमीटर वार्षिक वर्षा से कम वर्षा के क्षेत्र में है। किन्तु अधिकतर भागों में वर्षा, वर्ष के तीन-चार महीनों में ही होती है। यहाँ जब सूर्य शीर्ष पर होता है तो आर्द्र ऋतु होती है और जब यह नीचे होता है, तो शुष्क ऋतु होती है। केरल तथा पूर्वी भारत के कुछ भागों को छोड़कर, देश में सब जगह काल तथा क्षेत्रीय दृष्टि से वर्षा के वितरण में बहुत अधिक भिन्नता है। हमारी कृषीय भूमि को अतिवृष्टि और बाढ़ों से तथा इसकी कमी व सूखे से बहुत हानि पहुँचती है। देश के विस्तृत भाग पर भूमिगत नमी अथवा सिंचाई के लिए जल की आवश्यकता पड़ती है। सिंचाई के लिये जल कृषीय उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक है और क्योंकि वर्ष का लगभग आधा भाग सूखा रहता है, इसलिये इस काल में जल की आपूर्ति के लिए बहुत बड़े-बड़े जलाशय, जल एकत्र करने के लिये बनाने जरूरी हो जाते हैं। इसी कारण से हम बोए जाने वाले क्षेत्र के केवल 15% भाग पर वर्ष में एक से अधिक फसलें उगा सकते हैं। और यह क्षेत्र वहीं है जहां सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। पंच वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई का विकास करके भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषीय क्षेत्र के उत्पादन को बढ़ाने के लिये, नदियों के ऊपर बहुत से बाँधों का निर्माण किया गया है।

2. मिट्टियाँ

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान ने हमारी 'मिट्टी संपदा' को इसके 27 व्यापक प्रकारों तथा 3 प्रमुख वर्गों के आधार पर आंका है।

सारिणी-7
भारत की मिट्टियाँ

	प्रमुख मिट्टी-वर्ग	समस्त क्षेत्रफल का प्रतिशत
(अ)	जलोढ़	43.7
(आ)	काली और मिश्रित काली तथा लाल मिट्टियाँ	18.5
(इ)	लाल, पीली, तथा लेटराइट मिट्टियाँ	19.0
(ई)	अन्य	18.2

सामान्य रूप से, दक्कन के पश्चिमी भाग में काली लावा वाली मिट्टियाँ, पूर्वी तथा मध्यवर्ती प्रायद्वीपीय भाग में लाल तथा पीली मिट्टियाँ, उत्तरी भारत के मैदान, डेल्टा तथा तटीय मैदानों और हिमालय की घाटियों में जलोढ़ मिट्टियाँ मिलती हैं। हमारे मरु प्रदेश तथा पहाड़ी भागों की अधिकतर मिट्टियाँ इतनी अधिक उपजाऊ नहीं हैं तथा अभी तक व्यवस्थित रूप से वर्गीकृत नहीं हैं।

लाल तथा पीली मिट्टियाँ साधारण रूप से कम उपजाऊ होती है जबकि काली लावा और जलोढ़ मिट्टियों में प्राकृतिक उपजाऊपन बहुत अधिक होता

है। हमारे देश के विस्तृत भू-भाग पर कृषीय दशाओं तथा मिट्टियों की मूलभूत स्थितियों में बहुत अधिक अन्तर है। हमें अपनी मिट्टियों, इनके तथा सुधार उपजाऊपन को बनाए रखने की विधियों को भली प्रकार जानना है।

पूर्व तथा दक्षिण में उष्ण कटिबन्धीय भारत के कुछ भाग में 'लेटराइट' मिट्टियाँ बन गई हैं। आर्द्र के बाद शुष्क ऋतुओं के परिवर्तन ने यहाँ का क्षय करके इनकी ऊपरी पर्त को पतली लाल अथवा भूरे रंग की 'लेटराइट' मिट्टियों में बदल दिया है। यह ऊपरी पर्त सूखने पर ईंट जैसी कठोर हो जाती है। यह भवन निर्माण के लिए तो उपयुक्त पदार्थ है किन्तु कृषि के लिये बहुत हल्की अथवा प्राय: अनुपयुक्त है। देश के कुछ भागों में अब भी यह देखने में आता है कि लोग वन साफ़ करके ऐसी भूमि से एक फसल प्राप्त करने के लिए कृषि करते हैं, तथा दूसरी फसल प्राप्त करने के लिए अन्य स्थान साफ़ कर लिया जाता है। भारत के उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी और मध्यवर्ती पठारी वन-आच्छादित भागों में अभी भी इस प्रकार की स्थान्तरणी कृषि की प्रथा है। आपने देख लिया है कि जलवायु की बाधाएँ तथा अनुचित कृषीय विधियाँ कितने हानिकारिक ढंग से हमारी कृषि संपदा को प्रभावित कर रही हैं। हमें देखना है कि हमारी भूमि की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि सभी उपलब्ध प्राकृतिक सुविधाओं का अधिकतम लाभदायक उपयोग हो सके।

हमें सूर्य की तेज गर्मी तथा भारी वर्षा की अधिकता से अपनी मिट्टियों की रक्षा करनी है। इसके लिए हमें देखना चाहिए कि भूमि अपने वनस्पतिक आवरण के बिना न रह जाए तथा तेज धूप से इसके जैविक तत्व नष्ट न हो जाएँ। आवरण रहित भूमि तापमान की विषमताओं के कारण, छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती है जिसको तेज हवा और बहता जल सुगमता से अपने साथ एक स्थान से दूसरे स्थानों को ले जाते हैं। कटाव की इस प्रक्रिया को मिट्टी का अपरदन कहते हैं।

सारिणी-8
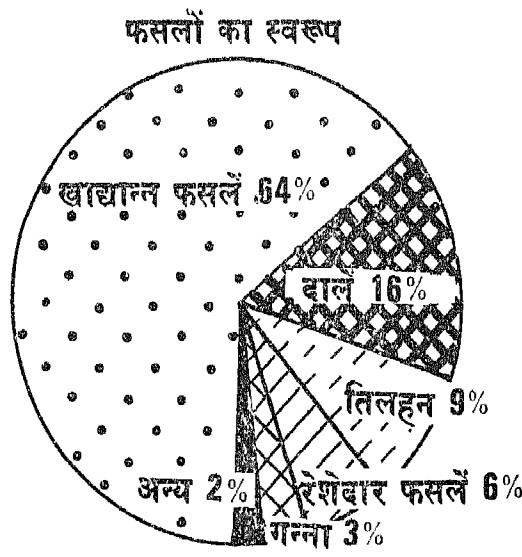
भारत में मिट्टी की क्षति का विस्तार

मिट्टी की क्षति अथवा कटाव का प्रकार	प्रभावित क्षेत्र	क्षति हुई भूमि का विस्तार
(अ) उपघाटी कटाव तथा अवनालिका	उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात	1 करोड़ हेक्टेयर
(आ) उप-पर्वतीय कटाव	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल-प्रदेश	1813 वर्ग कि० मीटर
(इ) खर-पतवार की वृद्धि	मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार	40 लाख हेक्टेयर
(ई) क्षेत्र में पानी का जमाव	पंजाब, हरियाणा	10 लाख हेक्टेयर
(उ) क्षारीयता तथा लवणता	पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश	60 लाख हेक्टेयर
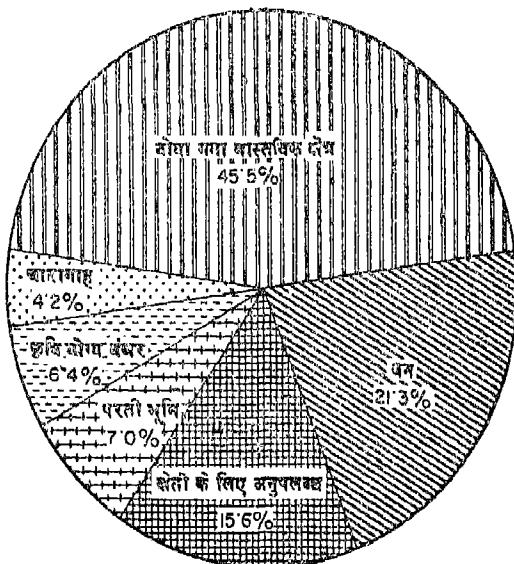
ऐसा अनुमान है कि कुल लगभग आठ करोड़ दस लाख हेक्टेयर भूमि कठोर अपरदन से क्षति-ग्रस्त है और इसका चौथाई भाग कृषि योग्य नहीं रहा। थार मरुस्थल के आस-पास वनों से कटने तथा चराई भूमि के दुरुपयोग के कारण वायु मिट्टी को उड़ा ले जाती है।

3. भूमि उपयोग की प्रवृत्ति

भारत के समस्त क्षेत्रफल में से 15 करोड़, 44 लाख हेक्टेयर अथवा 45.5 प्रतिशत भूमि वास्तविक बोये गये क्षेत्र के रूप में है (चित्र-12)। अन्य 7 प्रतिशत भूमि क्षेत्र ऐसी परती भूमि का है जिस पर दो या तीन वर्ष में एक बार कृषि होती है। लगभग 1.3 प्रतिशत भूमि पर वृक्षों

चित्र-12

चित्र-12 भारत में वन और चराई भूमि कम हैं, इस पर ध्यान दो क्या भारत को कृष्य क्षेत्रों को बढ़ाना चाहिए या वर्तमान कृष्य क्षेत्र से अधिक उपज प्राप्त करने पर बल देना चाहिए ? नकदी फसलों एवं खाद्य फसलों के अन्तर्गत आने वाली कृष्य भूमि का अनुपात क्या है ?

वाली उपजें अथवा बागीचे हैं। इस प्रकार समस्त क्षेत्रफल का लगभग 54 प्रतिशत भाग कृषि योग्य है। अधिकतर फसली क्षेत्र पर अनाज बोया जाता है। फिर भी खाद्यान्न का उत्पादन हमारे लिए पर्याप्त नहीं होता। देश में कृष्यकों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण प्रति व्यक्ति कृष्य भूमि का क्षेत्रफल अधिक नहीं है। अन्य विकसित देशों की तुलना में यहाँ प्रायः सभी जिन्सों की कृषीय उपजें अभी भी कम हैं। अब कठिनाई यह है कि हमारी मिट्टियां कम उपजाऊ होती जा रही हैं क्योंकि इन पर शताब्दियों से कृषि हो रही है। क्षतिग्रस्त भूमि तथा इसके समाप्त हुए उपजाऊपन को पुनः प्राप्त करना इस समय परमावश्यक है। सिंचाई तथा खाद की और अधिक सुविधा तथा बीजों की अधिक उत्तम किस्मों का प्रयोग कुछ ऐसे उपाय हैं जिनसे उत्पादन तथा प्रति इकाई उपज बढ़ सकती है। पंजाब तथा हरियाणा में सन् 1970-71 में सिंचित गेहूं की उपज, मध्य प्रदेश के अधिकतर वर्षा के ऊपर निर्भर होने वाले गेहूं के उत्पादन से लगभग तीन गुनी थी।
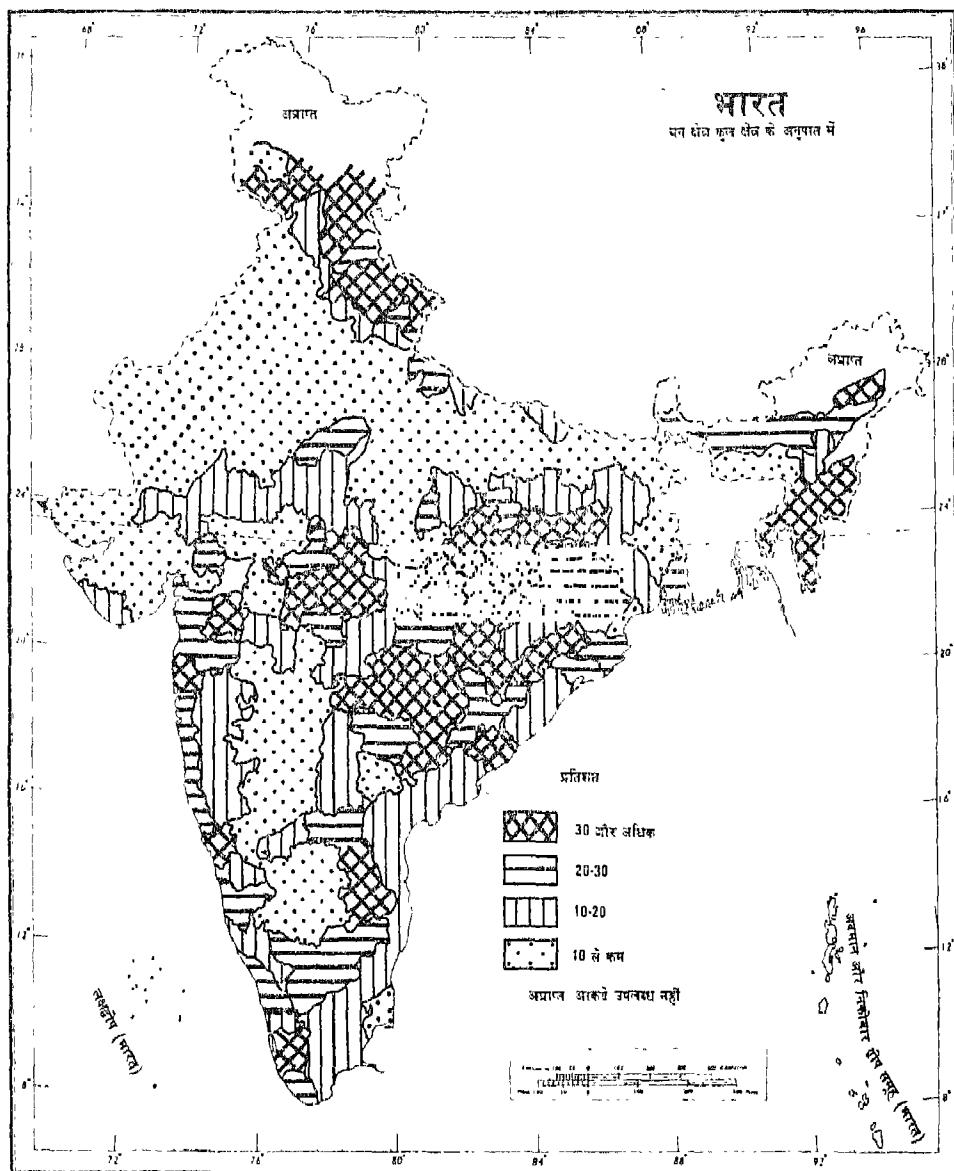
बिना कृषि वाली भूमि जिसमें वन, स्थायी चरागाह, कृषि योग्य बंजर, कृषि अयोग्य क्षेत्र तथा वह भूमि जो कृषि के लिए उपलब्ध नहीं है, सभी सम्मिलित हैं। यह क्षेत्र लगभग 17 करोड़, 20 लाख हेक्टेयर है, और देश के कुल क्षेत्रफल का 46 प्रतिशत बनता है। इस वर्गीकरण में सुधार की अभी भी बहुत आवश्यकता है। यह भी हो सकता है कि वन वाली भूमि में केवल साधारण से पौधों का आवरण हो, तथा कृषि योग्य बंजर भूमि पर अधिक वन हो सकते हैं। स्थायी चरागाहों में हो सकता है कि इतना अधिक पशुचारण न रहा हो जितना कि अन्य प्रकार की परती तथा कृषि अयोग्य भूमि में। इसीलिए भूमि उपयोग के ठीक वर्गीकरण तथा प्रत्येक प्रकार के वर्ग की ठीक-ठीक उपजाऊ क्षमता का ज्ञान नहीं हो पाता। इस समय सामान्य प्रवृत्ति यह है कि कुछ कृषि योग्य बंजर तथा पुरानी परती भूमि के क्षेत्रफल में कमी हुई है तथा दोहरी फसल के उत्पादन में वृद्धि हुई है। यह परिवर्तन सिंचाई की सुविधा में विकास के कारण हुआ है। कृषीय उत्पादन की वृद्धि के प्रमुख केन्द्रीय तत्व के रूप में सिंचाई के ऊपर बल देने से, सिंचित क्षेत्र सन् 1951 में 2 करोड़ 10 लाख हेक्टेयर से बढ़कर सन् 1973 में 3 करोड़ 19 लाख हेक्टेयर हो गया है। इस समय हमारे समस्त साधनों से सिंचित क्षेत्र का क्षेत्रफल ब्रिटिश द्वीप समूह के समस्त थल भाग के क्षेत्रफल से अधिक है। सन् 1950-51 से लेकर 1973-74 की अवधि में कृषि उत्पादन में, मूल्य के आधार पर 70.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कपास तथा अनाज का उत्पादन दुगुने से भी बढ़ गया है। रोपण फसलों का उत्पादन भी बहुत बढ़ा है जबकि तिलहन, दालों तथा तम्बाकू की उपज में बढ़ोत्तरी धीमी रही है।

4. वन :

हमारे देश में किसी न किसी प्रकार के वन कुल 7,52,982 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर फैले हैं जो देश के समस्त क्षेत्रफल का 21 प्रतिशत से कुछ अधिक है। देश की वन नीति के अनुसार एक लक्ष्य स्थापित किया गया है जिसमें वन क्षेत्र को देश के समस्त क्षेत्र के 33 प्रतिशत तक पहुंचाना है। इसका 20 प्रतिशत भाग मैदानों में तथा 60 प्रतिशत भाग पहाड़ों में होगा। सन् 1951 तथा सन् 1973 के मध्य, लगभग 20 लाख हेक्टेयर क्षेत्र पर मनुष्यों द्वारा रोपित वन लगे। वन बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनसे पहाड़ी ढालों पर नदियों के ऊपरी जलग्रहण क्षेत्र में भूमि का कटाव रुकता है, वर्षा में वृद्धि होती है तथा स्थानीय जलवायु उत्तम प्रकार का हो जाता है। हमें इन से बहुमूल्य लकड़ी तथा अन्य अनेकों औद्योगिक कच्चे माल व वन्य उपजें मिलती हैं।

भारत के वनों में बहुत अधिक विविधता है। यहाँ के वनों में पेड़ों की अनेक प्रकार की किस्में हैं तथा वनस्पतिक आवरण की सघनता में भी बहुत अन्तर है। यहां केरल तथा असम में उष्ण कटिबंधीय सदाबहार वन हैं और पश्चिमी हिमालय के भागों में कोणधारी वन। मध्य प्रदेश से

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

मानचित्र-13

चित्र-13 उत्तरी भारत के मैदान में वनो के अन्तर्गत भूमि अत्यधिक कम क्यों है ? भारत के किन भागों में शुष्क जलवायु के कारण वास्तविक वन नहीं पाए जाते हैं ?

भारत के विभिन्न भागों में वर्षा और वन क्षेत्रों के अनुपात के अन्तर्सम्बन्ध पर ध्यान दो ।

राजस्थान तक हमें उष्ण पतझड़ वाले वनों से लेकर काँटेदार झाड़ियाँ तक मिलते हैं। हिमालय के सीमित स्थानीय क्षेत्रों की निचली घाटियों में उपोष्ण प्रकार की वनस्पति देखने को मिलती है तो ऊपरी ढलानों की ऊंचाई पर कोणधारी वन हैं। सघन वन हिमालय के दुर्गम भागों तथा दूरस्थ पूर्वी पहाड़ियों, पूर्वी तथा मध्यवर्ती प्रायद्वीपीय भाग तथा पश्चिमी घाट में कुछ स्थलों तक ही सीमित हैं। विस्तृत सघन वन जो कभी सम्पूर्ण सतलुज---गंगा के मैदान, राजस्थान मरुभूमि तथा निचले शिवालिक प्रदेशों को घेरे हुए थे, अब साफ कर दिये गये हैं। मानचित्र (चित्र 13) पर एक दृष्टि डालें तो भारत के उत्तरी मैदान तथा पूर्वी तटीय मैदान के विस्तृत कृषित भाग में बचे खुचे वनों का न्यूनतम अनुपात देखने को मिलता है। केवल वही भाग, जहाँ या तो जनसंख्या बहुत कम है, या जो बड़े पैमाने पर कृषि के लिए अनुपयुक्त है, सघन वनों के अधिक अनुपातिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित है। पश्चिमी भारत तथा मध्यवर्ती दक्खन में अपेक्षाकृत अधिक सूखेपन, मैदानों तथा घाटियों में अधिक कृषि, अधिक पशुचारण तथा कृषि की त्रुटिपूर्ण विधियों के कारण भारत के मानचित्र पर अनेक भागों में वनों के अन्तर्गत बहुत कम क्षेत्र पाया जाता है।

हमारे वनों के केवल 6 प्रतिशत भाग पर कोणधारी वन हैं। इनकी मूल्यवान प्रकार की लकड़ियों में से देवदार, चीड़ और फर की लकड़ी उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर के ऊंचे पहाड़ी भागों से आती है। वनों का अन्य 25 प्रतिशत भाग मुख्य रूप से चौड़ी पत्ती वाले साल व सागवान के वनों से घिरा है। यह भी बहुत मूल्यवान लकड़ी के पेड़ है। साल के वन मुख्यतया प्रायद्वीप के पूर्वी भागों तथा शिवालिक पहाड़ियों के भागों में हैं और सागवान के पश्चिमी भागों में हैं। शेष सभी मानसूनी पतझड़ वाले वन 'विविध प्रकार' के वर्ग के अन्तर्गत रखे गये हैं जिनमें महोगनी, रोजवुड़, सुन्द्री, चन्दन, शीशम, और खैर जैसी बहुमूल्य किस्मों के कुछ ही खंड हैं जो आर्द्र और शुष्क उष्ण अक्षाशीय प्रदेशों से मरु प्रदेश की सीमाओं तक फैले हैं।

हमारे देश के वनों के लगभग चौथाई भाग में कोई व्यापारिक महत्व की लकड़ी नहीं है अथवा इनका विकास तथा शोषण व्यापारिक रूप से लाभप्रद नहीं है अथवा देश के दुर्गम भागों में है। स्वामित्व की दृष्टि से, 90 प्रतिशत वन राज्यों के नियंत्रण में हैं, किन्तु कानून सम्बन्धी असुविधाओं, तकनीकी अथवा विशिष्ट भौतिक कठिनाइयों तथा वनों के समीप बढ़ती हुई मनुष्यों तथा पशुओं की जनसंख्या के कारण, इन वनों का प्रबन्ध बहुत उत्तम ढंग से नहीं हो सका। 'आरक्षित वनों' को अपेक्षाकृत कुछ अच्छा कहा जा सकता है। इस प्रकार के 'आरक्षित वन' राष्ट्रीय वनों के लगभग आधे क्षेत्र पर है। इनमें पशुओं के प्रवेश तथा चारण पर साधारणतया प्रतिबन्ध रहता है। इनकी काष्ट संपदा (बहुमूल्य लकड़ी) तथा इन तक सुगम पहुंच के कारण, इनका लगातार उपयोग होता रहा है। किन्तु इनसे भी अधिक क्षेत्र 'सुरक्षित वनों' का है जो कि बहुत तीव्र ढलानों के साथ-साथ, नदियों के ऊपरी अपवाह क्षेत्रों में भूमि के कटाव को रोकने में सहायक है। प्रथम तो ये वन व्यापारिक लाभ के लिए हैं ही नहीं और दूसरे दुर्गम क्षेत्रों में होने के कारण लगातार इनका शोषण नहीं हो सकता। इन वनों के समीप अथवा इनमें रहने वाले लोग इन पर इतने अधिक निर्भर रहते हैं कि अधिकतर ईंधन पत्तियों, घास तथा अन्य वन उपजों का अपनी दैनिक छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोग करते हैं। यह प्रथा पहले तो ठीक चलती रही जब मनुष्य कम थे। किन्तु जनसंख्या की वृद्धि के साथ प्रयोगकर्ताओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ने से अब वन उपजों, चारा-घास तथा लकड़ी की बहुत अधिक खपत होने लगी है। इसके साथ ही हमें अन्य व्यापारिक उपजों, वन्य पशुओं की सुरक्षा तथा जलवायु व भूमि सुधार के लिए भी इन वनों की सुरक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के वन 'अवर्गीकृत वन' क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। यह

वास्तव में निम्न से निम्नोत्तर प्रकार के हैं।

इस प्रकार वनों का महत्व केवल इनके क्षेत्र-फल से ही नहीं आंका जा सकता। अपितु यह महत्व इनकी संपदा के उचित शोषण में है जिससे अपनी घरेलू तथा दैनिक आवश्यकताओं के लिए हम इस विषय में आत्म-निर्भर हो सकें।

5. चरागाह तथा पशुधन

भारत के कुल क्षेत्रफल का केवल 4.2 प्रतिशत स्थाई चरागाहों के रूप में है। ये चरागाहें अथवा घास के क्षेत्र मुख्यतया पहाड़ियों तथा हिमालय के ऊपरी भागों में अल्पाइन प्रकार की वनस्पति के क्षेत्रों में हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार भारत में किसी महत्वपूर्ण मात्रा में प्राकृतिक 'घास के क्षेत्र' नहीं हैं। प्रमुख रूप से निम्न कोटि के वन ही यहाँ घास के क्षेत्र मान लिये गये हैं। यहाँ बहुत से भागों में वर्ष में बहुत लम्बी अवधि शुष्क काल की है जिसमें लगातार सामान्य वर्षा भी बहुत कम होती है। इसके साथ ही भारी जनसंख्या के पोषण के लिए अन्न उपजों की अधिक मांग के कारण फसलों के स्थान पर घास उगने के लिए बहुत कम क्षेत्र रह पाता है। इन्हीं कारणों से हमारे देश में बहुत कम घास के क्षेत्र हैं।

हमारी कृषीय अर्थव्यवस्था में गाय, भैंस जैसे दूध देने वाले तथा कृषि कार्य में काम आने वाले बैलों का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, पशुओं की संख्या में भारत विश्व में अग्रणीय है किन्तु यहां पशुओं की देख-रेख अच्छे ढंग से नहीं होती। पशुओं से हम खालें तथा चमड़ा, खाद, दूध (अब गोबर-गैस के लिए गोबर का भी कुछ उपयोग बढ़ा है) प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त पशु खेती में कृषि कार्य में भी बहुत उपयोगी है।

भारत में विश्व की पशु संख्या का 19 प्रति-शत पशु हैं जिनमें 69 प्रतिशत कृषि कार्य में काम आने वाले बैल जैसे पशु हैं तथा 31 प्रतिशत दुधारू पशु हैं। भारत में विश्व की लगभग 50 प्रतिशत भैंसे है जिनसे देश का अधिकतर दूध प्राप्त होता है। फिर भी देश के पशुओं की कुछ अच्छी नस्लें तथा अधिक-उत्पादक दुधारू पशु पश्चिमी तथा उत्तरी-पश्चिमी भागों में है जहाँ वर्षा 'कम' से 'सामान्य' तक अर्थात् 50 सेन्टीमीटर से 120 सेन्टीमीटर तक होती है। इस विषय में पंजाब, हरियाणा, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र राज्य के कुछ भाग प्रसिद्ध है। कृषि के क्षेत्र में 'हरितक्रांति' के पश्चात् हमने पशुओं के दूध-उत्पादन की वृद्धि के विषय में सोचना आरंभ किया है जिससे पंजाब तथा हरियाणा जैसे राज्यों में 'श्वेत क्रांति' को लाया जा सके।

भारत में विश्व की केवल 4 प्रतिशत भेड़ें हैं जो ऊन तथा मांस प्रदान करती हैं। यद्यपि ये आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में सबसे अधिक हैं किन्तु इनसे प्राप्त दक्षिण भारतीय ऊन अपेक्षाकृत घटिया तथा छोटे तन्तु वाली हैं। अच्छी ऊन वाली भेड़ें उत्तरी-पश्चिमी भारत में पाली जाती हैं, विशेषकर जम्मू-कश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश के ऊपरी अल्पाइन घास क्षेत्रों में। हिमालय के पश्चिमी राज्यों में अब ऊन की किस्म के सुधार के लिए स्वदेशी भेड़ की नस्ल को सुधारने वाले केन्द्र स्थापित किए गये हैं। इनमें स्थानीय भेड़ों तथा विदेशी प्रकार की भेड़ों के मिश्रित प्रजनन से विकसित प्रकार की नस्ल उत्पन्न की जाती हैं। बकरियां भारत में विश्व की बकरी संख्या का 17 प्रतिशत हैं। इनकी सबसे अधिक संख्या उत्तरी भारत के मैदानों तथा पहाड़ियों में हैं। यह जानना रुचिकर होगा कि कुछ लोगों ने भेड़ को एक प्रकार की पशु-रेशा प्रदान करने वाली नकदी फसल कहा है तो बकरी को एक जीवन निर्वाह करने वाली ऐसी फसल के तुल्य माना है जो कि दूध, मांस, तथा गरीबों के लिए बाल (ऊन) प्रदान करती है। इनके अतिरिक्त भार ढोने वाले पशु, घोड़े, टट्टू, ऊंट, गधे, याक और खच्चर हैं जो अपने विशिष्ट क्षेत्रों तक सीमित हैं। मुर्गी-पालन को हाल के कुछ दशकों में, बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला है।

हमको पशुधन की संख्या तथा इसकी वृद्धि की गति के अनुरूप पशुचारण को नियन्त्रित रखते हुए घास के क्षेत्रों को पर्याप्त मात्रा में उचित ढंग से रखना है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने अपने अपने स्तर पर पशुओं की बीमारियों की रोकथाम करने की दिशा में कई कदम उठाये हैं। पशु उपजों के लिए और अधिक अच्छी बिक्री की सुविधाएं प्रदान करके, पशुओं की नस्ल-सुधारने की ओर भी ध्यान दिया गया है। अभी भी किसानों को यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पशु-पालन, फसलों की कृषि के समान ही लाभप्रद है। इसके लिए राजस्थान तथा हिमालय के ऊंचे भागों के ऊंट, भेड़ और बकरी चराने वाले व्यावसायिक चलवासी चरवाहों के व्यवसाय में भारी जोखिम को भी कम करने की आवश्यकता है।

6. मत्स्य-उद्योग और सागर संपदा :

भारत में लगभग 6000 किलोमीटर लम्बा समुद्र-तट है किन्तु मत्स्य क्षेत्रों तथा अन्य सागरीय संपदा का आर्थिक विकास तथा शोषण बहुत कम हुआ है। मछली, तटवर्ती क्षेत्रों तथा देश के आन्तरिक भागों में, जहाँ पानी की बहुलता है, वहां के निवासियों के भोजन का महत्वपूर्ण अंग है।

संपदा के इस वर्ग का, भौतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक बाधाओं के कारण अधिक शोषण नहीं हुआ है। महाद्वीपीय मग्नतट का विस्तार, सागर में आकर मिलने वाली बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा प्लैंक्टन जीवों का लाना, सागरीय तट के समीप समुद्री धाराएं तथा तट के समीप रहने वाले मछुओं की उद्यमशीलता हमारे देश में मत्स्य क्षेत्रों के विकास में सहायक हैं। किन्तु महाद्वीपीय जल मग्नतट की संकीर्णता, सीधी तट-रेखा जिसमें बहुत कम सुरक्षित पोताश्रय हैं, तथा मछली पकड़ने की आधुनिक विधियों के अभाव के कारण भारत में सागरीय मत्स्य क्षेत्रों का बहुत सीमित विकास हुआ है।

सन् 1952 में एक भारत-नार्वे विकास परियोजना के अन्तर्गत केरल में यंत्रीकृत मत्स्य क्षेत्र, आधुनिक प्रकार की नौकाएं, बड़े-बड़े जल-पोत, संग्रह केन्द्र तथा परिवहन की सुविधाएं उपलब्ध की गईं। आधुनिक साधनों के अभाव में हमारे तटीय क्षेत्रों के मछुए, कुछ किलोमीटर दूर तक की संकीर्ण पेटी के परे खुले सागर में नहीं जा सकते थे, विशेषकर झंझावातों के मौसम में। हमारी सागरीय मछली की पकड़ सन् 1973 में 15 लाख टन से अधिक तक बढ़ गई थी। यह पकड़ आन्तरिक ताजे पानी के मत्स्य क्षेत्रों से पकड़ी गई मछली के अतिरिक्त है। ताजे पानी के मत्स्य क्षेत्र मुख्यतः पश्चिमी बंगाल, बिहार, और उड़ीसा जैसे पानी की बहुलता वाले राज्यों में हैं। बहु-उद्देशीय योजनाओं के लिए निर्मित बांधों से बनी विशाल झीलों ने देश के बहुत से भागों में इन आन्तरिक ताजे पानी के मत्स्य क्षेत्रों को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। अन्य सागर तटीय संपदा में नमक, खनिज तेल तथा प्राकृतिक गैस, क्षार-रहित किया हुआ सागरीय शुद्ध पेयजल तथा कुछ ऐसे पौधे है जिनसे भोजन और कच्चा माल प्राप्त हो सकता है।

7. जल :

जल, सिंचाई के साधनों के विकास, जल परिवहन, जल विद्युत उत्पादन, तथा दैनिक घरेलू और औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। जल-संपदा का शोषण बहुत सोच-समझ कर करना चाहिए जिससे समस्त सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। हमारी कुछ अन्तर्राज्यीय नदियों के जल उपयोग पर वाद-विवाद उठ खड़े हुए हैं। यह इस बहुमूल्य सम्पदा से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के मार्ग में रुकावट हैं।

भारत की जल सम्पदा का बहुत अधिक भाग उन क्षेत्रों में है जहां वार्षिक वर्षा 125 सेंटीमीटर से अधिक होती है। किन्तु सिंचाई के लिए जल की सबसे अधिक आवश्यकता सामान्य से कम वर्षा के क्षेत्रों में है। पश्चिमी राजस्थान के बहुत से भागों में भूमिगत जल खारा है और बहुत सी नदियों में, समीप के शहरों तथा औद्योगिक गन्दगी के निकास से, जल प्रदूषण का भय
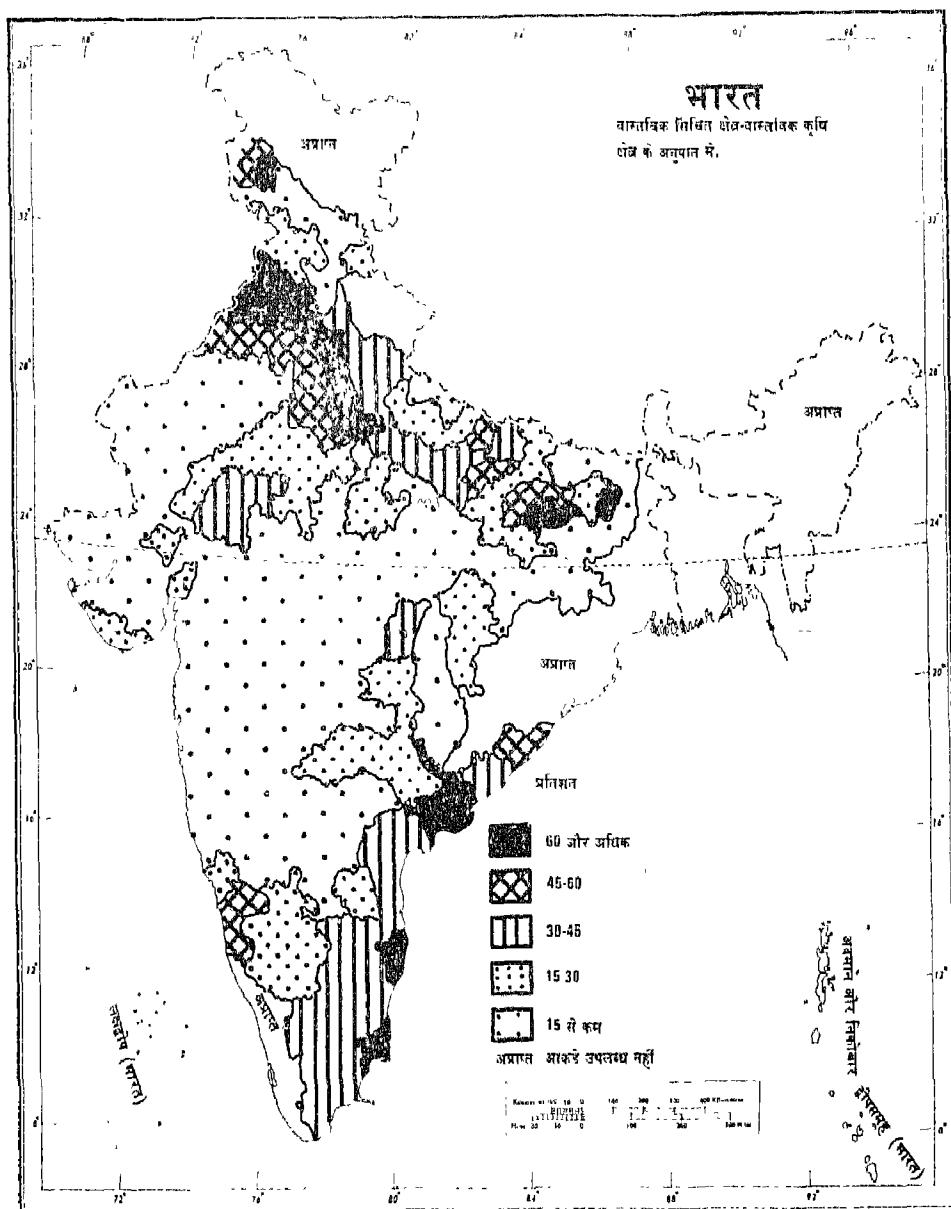
उत्पन्न होता जा रहा है। दूसरी ओर हमारे बड़े-बड़े शहरों में, जल की खपत करने वाली बढ़ती जनसंख्या के कारण, पेयजल की बहुत अधिक कमी का अनुभव हो रहा है। बहुत अधिक संख्या में अभी भी गांवों के क्षेत्र, सुरक्षित तथा विश्वसनीय जल आपूर्ति के बिना रह रहे हैं। कुछ वर्ष पहले मद्रास में, घरेलू तथा औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए, जल की कमी इतनी अधिक हो गई थी कि अधिक खर्चीली विधि होते हुए भी सागरीय जल को क्षार-रहित करने की बात सोची गई।

भारत में मानसूनी वर्षा की अविश्वसनीयता तथा परिवर्तनशीलता के कारण, कृषि के लिए सिंचाई जल की विशद आवश्यकता की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। यदि 'एक हेक्टेयर' समतल भूमि क्षेत्र पर 'एक मीटर' ऊंचाई तक जल भर कर रोका जाए, तो इस जल के आयतन को 'एक हेक्टेयर मीटर' कहा जाता है। अब भारत की नदियों के सामान्य बहाव को ध्यान में रखते हुए यह हिसाब लगाया गया है कि हमारी जल संपदा लगभग 16 करोड़ 70 लाख हेक्टेयर मीटर है। इसमें से अनुमानत: 6 करोड़ 60 लाख हेक्टेयर मीटर जलराशि सिंचाई के लिए उपयोग में लाई जा सकती है। यह देश के धरातलीय जल के बहाव का केवल तिहाई भाग है। वर्ष 1951 के आरम्भ में सिंचाई के लिए प्रयुक्त जल 97 लाख हेक्टेयर मीटर था। अब हमने नियंत्रित जल की क्षमता 2 करोड़ 3 लाख हेक्टेयर मीटर तक बढ़ा दी है। समस्त, प्रयोग में लाए जा सकने वाले जल को पूर्ण क्षमता तक प्रयोग में लाने के लिए काफी धन तथा प्रयासों की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त हम अन्य 2 करोड़ 70 लाख हेक्टेयर मीटर भूमिगत जल भी उपयोग में ला सकते हैं। जिसमें से सन् 1973 तक केवल 87 लाख हेक्टेयर मीटर जल ही उपयोग में लाया जा सका था। इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि सन् 1973 में देश में अंततः समस्त सम्भावित सिंचित क्षेत्र में से कुल 4 करोड़ हेक्टेयर कृषि भूमि वास्तव में सींची जा सकी।

वास्तविक सिंचित क्षेत्र का सामान्य वितरण भारत के मानचित्र (चित्र 14) में दिखाया गया है। पंजाब-हरियाणा में कृपित क्षेत्र का 60 से 75 प्रतिशत भाग विस्तृत रूप से सिंचित है। तमिलनाडु तथा आंध्र प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी तटीय मैदान में तथा पश्चिमी और मध्यवर्ती गंगा के मैदान में कुछ ऐसे बड़े भू-क्षेत्र हैं जिनमें 45 से 60% तक भूमि किसी न किसी साधन से सींची जाती है। केरल तथा असम में सिंचाई की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनकी स्थिति आर्द्र तथा गर्म भाग में होने के कारण यहां वर्ष के अधिकतर भाग में थोड़ी बहुत वर्षा होती रहती है। मध्यवर्ती भारत, दक्षिणी पठार तथा राजस्थान में सिंचित क्षेत्र का अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम है तथा न्यूनतम है। पश्चिमी हिमालय के प्रदेशों के विषय में, जहां सिंचाई की आवश्यकता है, इन आँकड़ों से अधिक जानकारी नहीं मिलती। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि घाटियों के अपेक्षाकृत समतल भागों में खूब सिंचाई होती है। किन्तु यह तभी सम्भव होता है यदि नदियाँ समीप के इधर उधर बिखरे कृषित भागों से बहुत अधिक नीचे न बह रही हों। इस प्रकार की सरिताओं के जल को नीचे खेतों के तल तक उठाना, इसे ऊँचे पहाड़ों के साथ-साथ ले जाना, अथवा इसे ऊँचे नीचे पर्वतीय भू-तल पर से ले जाना अधिक खर्चीला पड़ता है। सिंचाई के जल साधनों का उचित उपयोग हिमालय के ऊँचे, शुष्क तथा दुर्गम क्षेत्रों में करना और भी कठिन है। यहाँ की नदियों में सारा साल पानी रहता है क्योंकि वह हिमनदों से निकलती हैं। घास का एक तिनका भी इन सूखे क्षेत्रों में सिंचित जल के बिना नहीं उग सकता। परन्तु उपरोक्त कठिनाईयों ने सिंचाई के विस्तार को एक गहन समस्या बना दिया है।

8. शक्ति-संपदा :

भारत में सामान्यत: उत्तम प्रकार के कोयले तथा खनिज तेल की कमी को बहुत हद तक, यहाँ की विशाल जल राशि से प्राप्त विद्युत शक्ति को विकसित करके, पूरा किया जा सकता है। भारत की जल-विद्युत शक्ति की क्षमता

मानचित्र-14

चित्र-14 उन क्षेत्रों को अंकित करो जहां सबसे अधिक और सबसे कम कृष्य भूमि सिंचित है। कम सिंचाई प्राप्त करने वाले क्षेत्रों और उनकी प्राकृतिक या आर्थिक स्थिति के मध्य कि प्रकार का संबंध पाया जाता है ?

अब 60 प्रतिशत भार तत्व पर 4 करोड़ 10 लाख किलोवाट आँकी जाती है। भारत की संभावित जल विद्युत शक्ति संपदा का 60 प्रतिशत भाग हिमालय प्रदेश में तथा 20 प्रतिशत दक्षिण भारत की पूर्व की ओर बहने वाली नदियों के बेसिन में और शेष पश्चिमीघाट पहाड़ों से निकलकर पश्चिम को बहने वाली नदियों के क्षेत्रों तथा मध्यवर्ती भारत में है।

जल विद्युत के उत्पादन के लिये जल को एकत्रित अथवा नियंत्रित करके, आवश्यक मात्रा में प्राकृतिक अथवा कृत्रिम ऊँचे स्थान से, विद्युत उत्पादक यंत्र के स्थान पर गिराना होता है। यह शक्ति, शक्ति-संचार के तारों द्वारा दूर-दूर तक कोयले तथा खनिज तेल की कमी वाले भागों तक पहुँचाई जा सकती है। जल विद्युत योजना को कार्यान्वित करने तथा शक्ति-गृह स्थापित करने का आरम्भिक व्यय बहुत अधिक होता है, किन्तु बाद में इसे चलाते रहने का खर्च बहुत ही कम हो जाता है। हमारे देश के उत्तर-पश्चिमी तथा प्रायद्वीपीय प्रदेश जो कोयला क्षेत्रों से दूर हैं, जल विद्युत के विकास में अग्रणीय रहे हैं। भारत में सन् 1951 में सम्पूर्ण विद्युत-गृहों जी जल विद्युत क्षमता केवल 5 लाख 75 हजार किलोवाट थी। यह बढ़ कर सन् 1974 में 70 लाख 50 हजार किलोवाट हो गई। यद्यपि यह वृद्धि तेरह गुणी है, किन्तु फिर भी हम कुल जल शक्ति संपदा की क्षमता का केवल 18 प्रतिशत ही उपयोग में ला सके हैं।

कोयला, शक्ति का एक प्रमुख साधन है तथा महत्वपूर्ण औद्योगिक ईंधन है। भारत में कोयले के अनुमानित भंडार 1 खरब, 23 अरब मीट्रिक टन है। इसमें से पाँच में से चार भाग के बराबर कोयला भंडार पूर्वी भारत की बिहार-बंगाल कोयला पेटी में केन्द्रित है। कोयले का वार्षिक उत्पादन अब लगभग 9 मीट्रिक करोड़ टन तक पहुंच गया है जो सन् 1951 के उत्पादन से तिगुना है। यह विश्व के उत्पादन का तो केवल 3 प्रतिशत परन्तु संसार के कोयला उत्पादकों में भारत पहले नौ देशों में आता है। भारत में उत्पादित कोयले की लगभग 75 प्रतिशत खपत भारतीय रेलों, औद्योगिक संस्थानों तथा ऊर्जा विद्युत केन्द्रों द्वारा होती है।

भारत में, यद्यपि, सम्भावित खनिज तेल धारक क्षेत्र दस लाख वर्ग किलोमीटर से अधिक है, किन्तु सर्वेक्षण द्वारा स्थापित भंडार बहुत कम अर्थात् केवल 10 करोड़ से 17 करोड़ 50 लाख मीट्रिक टन के बीच में हैं। इस का वास्तविक उत्पादन (सन् 1974 में 75 लाख टन) इस समय तीन राज्यों तक ही सीमित है, ये राज्य (1) असम (2) गुजरात (3) सागर तट से दूर गहरे जल में 'बम्बई-हाई' (महाराष्ट्र) हैं। खनिज तेल का हमारा देशीय उत्पादन हमारी केवल 35 प्रतिशत आवश्यकता को कठिनाई से पूरा करता है। हम विदेशों से कच्चे तेल का आयात करते हैं, और हमारे सागर तट पर स्थित तेल परिष्करणशालाएँ (उन केन्द्रों के अतिरिक्त जो देश के आन्तरिक भागों में भारतीय उत्पादन का शोधन करते हैं) इस कच्चे तेल का शोधन करते हैं। सन् 1975 में हमारे तटीय शोधन केन्द्रों ने 2 करोड़ 4 लाख मीट्रिक टन तेल को कई प्रकार के प्रयोगों के लिए तैयार किया।

हमारे देश ने अणु शक्ति उत्पादन के लिए अणु-ईंधन के विकास की योजना को भी कार्यान्वित कर दिया है। भारत में शान्तिपूर्ण औद्योगिक कार्यों के लिये अणु शक्ति विकास के लिए कच्चे माल के रूप में दोनों आवश्यक खनिज यूरेनियम तथा थोरियम उपलब्ध हैं। यूरेनियम, बिहार, राजस्थान तथा तमिलनाडु में मिलता है और थोरियम के भंडार बिहार के छोटा नागपुर पठार तथा केरल के समुद्र तटीय मोनाजाईट नाम के बालू में प्राप्त हैं। भारत का सबसे पुराना अणु शक्ति केन्द्र महाराष्ट्र तथा गुजरात की सीमा पर, तारापुर के स्थान पर है और यह सन् 1969 से 4 लाख 20 हजार किलोवाट अणु शक्ति उत्पन्न कर रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य केन्द्र राजस्थान में कोटा के समीप, मद्रास के समीप कल्प-

कलम तथा उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर के समीप नरोरा में हैं। ये या तो निर्माणाधीन हैं अथवा इनमें तकनीकी कठिनाइयों के कारण अभी पूरा उत्पादन आरंभ नहीं हुआ है।

कोयला तथा खनिज तेल जीवांशों से प्राप्त ईंधन हैं और शक्ति के पुराने भण्डार हैं। इनके अतिरिक्त आजकल अप्रचलित शक्ति संपदा के रूप में, सूर्य के प्रकाश, हवा, ज्वारीय लहर तथा गर्म पानी के स्रोतों की उष्मा से भी शक्ति प्राप्त करने के प्रयास किये जा रहे हैं। लगभग 25 वर्षों के प्रयास के पश्चात् सन् 1972 के अन्त तक हमारी दोनों प्रकार की उष्मीय तथा जल विद्युत ऊर्जा की उत्पादन क्षमता 1 करोड़ 79 लाख किलोवाट तक पहुंच गई थी। सब साधनों से मिलाकर सन् 1974-75 में 15 लाख किलोवाट ऊर्जा उत्पन्न की जा सकी जो 1960-61 के उत्पादन से 27 प्रतिशत अधिक है। इसमें 57 प्रतिशत उष्मीय विद्युत शक्ति, 39 प्रतिशत जल विद्युत शक्ति तथा 4 प्रतिशत अणु विद्युत शक्ति थी। कोयला, डीजल तेल, अणु तथा जल जैसे सभी साधनों से उत्पन्न विद्युत शक्ति का संचालन इस समय 5 प्रदेशीय ग्रिड व्यवस्था से किया जाता है जिनसे अन्त में एक राष्ट्रीय ग्रिड बन सके।

हमारी शक्ति उत्पादन क्षमता इस समय सन् 1947 की तुलना में लगभग 9 गुनी अधिक बढ़ गई है, और 79 बड़े जल विद्युत तथा 67 बड़े उष्मीय शक्ति केन्द्र कार्यरत हैं। विद्युत संचार तथा वितरण की तार लाइनों की सम्पूर्ण लम्बाई, भूमध्यरेखा की सम्पूर्ण लम्बाई से 30 गुनी से भी अधिक है। फिर भी विभिन्न प्रकार के उपभोगों में शक्ति की प्रति व्यक्ति खपत सन् 1969 में इतनी थी, जितनी 193 किलोग्राम कोयले से शक्ति उत्पन्न होती है। विद्युत का उत्पादन मार्च, 1972 तक प्रति व्यक्ति 120 किलोवाट था। ये दोनों ही विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है।
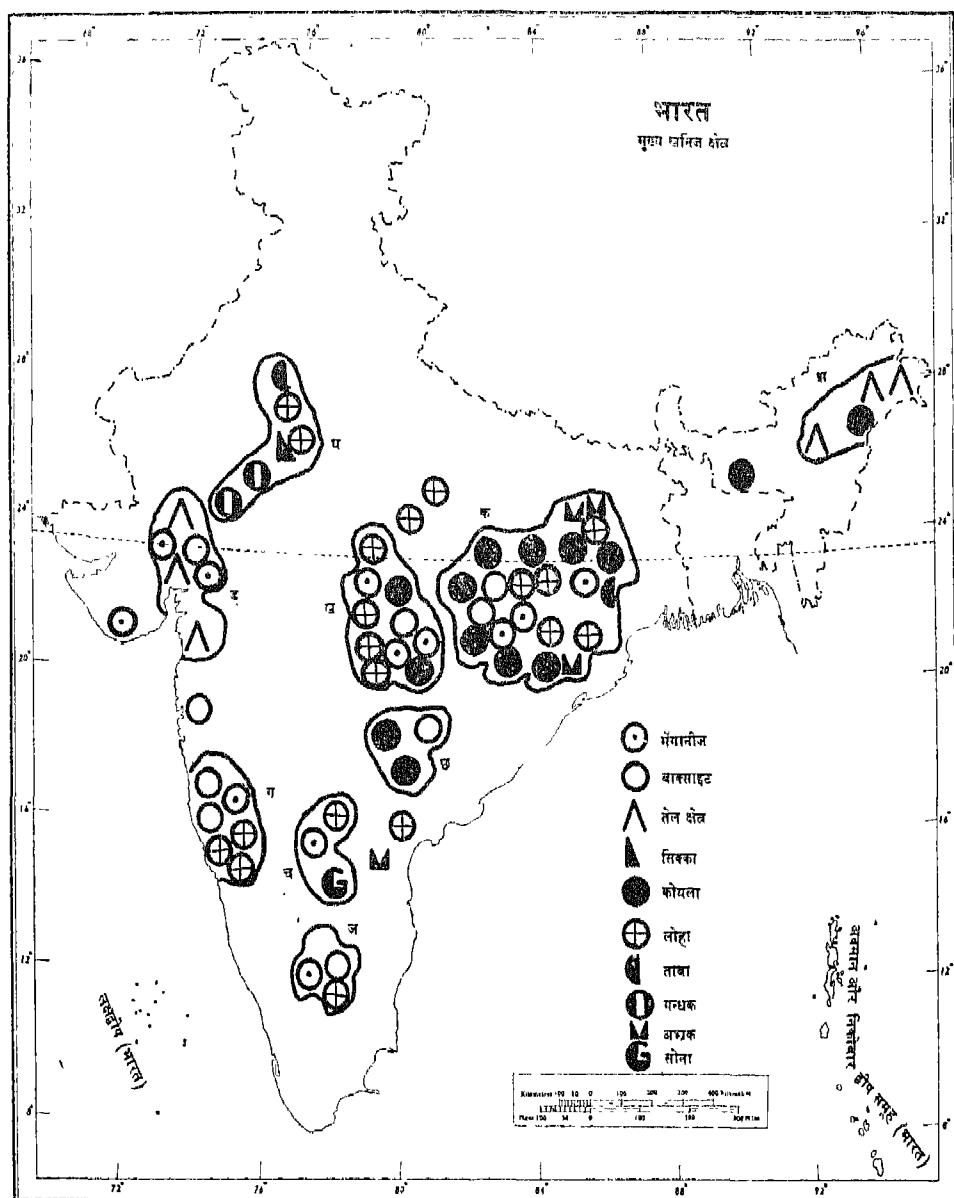
9. खनिज संपदा :

भारत जैसे विकासशील देशों के लिए कुछ सीमा तक औद्योगिक क्षेत्र में स्वावलम्बी होने के लिए तथा राष्ट्रीय आय बढ़ाने के लिए अपनी खनिज संपदा की खोज तथा शोषण एक वरदान सिद्ध हो सकती है। अब तक विश्व में खनिजों के शोषण में समशीतोष्ण कटिबन्धों के देश अन्य बहुत से उष्ण कटिबंधीय विकासशील देशों से आगे रहे हैं। अग्रणीय देशों में अधिक आर्थिक विकास तथा खनिज धारक चट्टानों का धरातल पर अधिक प्रगट होना अर्थात् भूतल के अधिक समीप होना इन देशों के लिए दो मूलभूत सुविधाएँ सिद्ध हुई हैं। भारत की उष्ण कटिबन्धीय जलवायु में भारी वर्षा तथा उच्च तापमान से चट्टानों का विघटन बहुत तीव्र गति से होता है। इससे मिट्टी का कटाव होता है। मिट्टी तथा वनस्पति की परत नीचे की मूल खनिज धातुओं से युक्त चट्टानों को ढक देती है।

बाक्साइट, कुछ लौह-अयस्क तथा मैंगनीज जैसे खनिज जो जलवायु द्वारा विघटन प्रक्रिया से बनते हैं, धरातल के समीप इकट्ठे होते रहते हैं तथा भारत जैसे देशों में सुगमता से पाये जाते हैं। अन्य खनिज जैसे चूने का पत्थर, डोलोमाइट, जिप्सम तथा नमक आसानी से घुलनशील हैं और इसलिये अधिक वर्षा के क्षेत्रों में सुगमता से नहीं मिलते।

हमारे विशाल मैदानों में मिट्टी की परतों का बहुत भारी निक्षेप है। बहुत गहराई तक भी आधारीय चट्टानों का पता नहीं चलता। देश के ये भाग खनिजों में सबसे निर्धन हैं (चित्र 15)। उष्ण अक्षांशों के बाहर, हिमालय पर्वत विभिन्न प्रकार की चट्टानों का घर है। किन्तु चट्टानों के बहुत अधिक विस्थापन ने इनके क्रम तथा सरल व्यवस्था को बिगाड़ कर सबसे अधिक जटिल भूगर्भिक रचना प्रस्तुत कर दी है। इस पर्वतीय भाग में खनिजों का व्यापारिक स्तर पर शोषण आसान कार्य नहीं है। यहाँ पर खनिजों की स्थिति दुर्गम क्षेत्रों में है तथा प्रतिकूल जलवायु बहुत से क्षेत्रों में बाधक रहती है। ये सब बातें हिमालय प्रदेश में खनिजों की खोज तथा शोषण को बहुत अधिक

मानचित्र-15

चित्र-15 प्रायद्वीपीय भारत में तुलनात्मक रूप से खनिजों के उच्च संकेन्द्रण पर ध्यान दो। मानचित्र को देखो और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में खनिज क्षेत्रों को उनके महत्व के अनुसार क्रमांकित करो।

खर्चीला कार्य बना देती है। अब आप समझ जायेंगे कि हमारे देश के महत्वपूर्ण विस्तार वाले तथा खनिजों से सम्पन्न क्षेत्र अधिकतर प्रायद्वीपीय भारत के पठारों तथा निचली पहाड़ियों में क्यों हैं। इसका कारण यहां की चट्टानों की सुगम बनावट तो है ही, साथ ही साथ ये ऐसे पुराने और रवेदार शैल हैं जो खनिजों से भरे पड़े हैं। ऐसी चट्टानों से खनिजों का निकालना भी आसान रहता है। इन्हीं कारणों से हमारे देश में खनिज संपदा का वितरण अत्याधिक असमान हो गया है।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि भारत के अभी तक ज्ञात खनिज भण्डार विस्तृत तो हैं, किन्तु देश की जनसंख्या तथा विस्तार की दृष्टि से अधिक बड़े नहीं हैं। देश के छिपे हुए खनिजों को खोजने के लिए नई विधियों को प्रयोग में लाना होगा तथा इसके भंडारों की मात्रा को निर्धारित करने के लिये कार्यकुशल पद्धतियों को काम में लाने की आवश्यकता है।

भारत उत्तम प्रकार के लौह-अयस्क, अभ्रक तथा थोरियम, बाक्साइट, मैंगनीज़, सिलिका, दुर्गलनीय उच्च ताप सहने वाले पदार्थ और ग्रेनाइट खनिजों में बहुत धनी है। एन्टीमनी, भवन-निर्माण के लिए पत्थर, सीमेंट पदार्थ, मिट्टियाँ तथा बालू, कोयला, क्रोमाइट, चूने का पत्थर, डोलोमाइट, संगमरमर, सोना, पाइराइट, सोडियम नमक तथा कुछ मूल्यवान पत्थरों में हम अपेक्षाकृत बहुत दीर्घ काल तक स्वावलम्बी प्रतीत होते हैं। भारत में ताँबे, ग्रेफाइट, सीसा, पारा, जस्ता, टिन, निकल, खनिज तेल, चट्टान वाला फास्फेट, गंधक तथा टंगस्टन की बहुत कमी है तथा इनको विदेशों से आयात किया जाता है।

खनिज ईंधनों के अतिरिक्त खनिजों को लौह तथा अलौह और धात्विक तथा अधात्विक खनिज वर्गों में रख सकते हैं। यह स्पष्ट रूप से देखा गया है कि भारत लौह खनिजों में से लौह-अयस्क में बहुत धनी है। हमारे सम्भावित भण्डार लगभग 21 अरब, 87 करोड़ मीट्रिक टन अथवा विश्व के समस्त ज्ञात भंडारों का लगभग एक चौथाई हैं। बिहार तथा उड़ीसा राज्यों के क्षेत्र एक साथ मिलकर भारत के समस्त लौह उत्पादन का 75 प्रतिशत उत्पन्न करते हैं। अन्य उत्पादक क्षेत्र मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, गोआ और महाराष्ट्र में हैं। सन् 1975 में हमारा उत्पादन 3 करोड़ 6 लाख मीट्रिक टन था, और भारत का विश्व में आठवाँ स्थान था। अपने लोहा तथा इस्पात कारखानों में प्रयोग के अतिरिक्त, हमने फालतू लौह-अयस्क का निर्यात, मध्य प्रदेश के बैलादिला क्षेत्र से विशाखापटनम् जलपोताश्रय द्वारा जापान के लिये आरम्भ कर दिया है। शीघ्र ही कर्नाटक के कुन्द्रेमुख क्षेत्र से मंगलौर जलपोताश्रय द्वारा ईरान के लिये इसका निर्यात किया जाना प्रस्तावित है। मारमा गोआ भी, भारत से लोहा निर्यात करने वाली एक प्रमुख बन्दरगाह है।

मैंगनीज का उपयोग कठोर इस्पात तथा इसकी अन्य मिश्रित धातुएँ बनाने में होता है। हमारे अनुमानित भण्डार 18 करोड़ टन से अधिक हैं तथा मध्य प्रदेश महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और छोटा नागपुर पठार के क्षेत्रों में स्थित हैं। इस खनिज में भारत का विश्व में महत्वपूर्ण स्थान है। उत्पादन का लगभग 70 प्रतिशत मैंगनीज अयस्क। (1974 में कुल उत्पादन 14 लाख टन) मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र के मुख्तया नागपुर, भण्डारा और बालाघाट जिलों से आता है। इसके उत्पादन में भारत का स्थान रूस, ब्राजील तथा दक्षिणी अफ्रीका के बाद है।

अभ्रक के उत्पादन में विश्व में, हमारा प्रथम स्थान है और यहाँ विश्व के उत्पादन का लगभग दो तिहाई अभ्रक निकाला जाता है। बिहार राज्य में छोटा नागपुर के उत्तरी छोर के साथ-साथ के क्षेत्र में हज़ारीबाग, गया तथा मुँगेर जिलों से भारत के वार्षिक उत्पादन का लगभग आधा भाग प्राप्त होता है (13,409 टन सन् 1974 में)। इसका शेष भाग राजस्थान के अरावली तथा आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिलों से आता है। अभ्रक, विद्युत उद्योग में बहुत महत्वपूर्ण है तथा यही एक ऐसा महत्वपूर्ण खनिज है जो द्वितीय

विश्व युद्ध के समय वायुयानों द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका को भेजा जाता रहा है।

भारत बाक्साइट के भण्डारों में धनी है। ये 23 करोड़ टन के लगभग हैं। बाक्साइट एक ऐसा अयस्क है जिससे अलुमीनियम निकाला जाता है। भारत में अलुमीनियम उद्योग के विकास के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता प्रचुर मात्रा में सस्ती विद्युत शक्ति की है। इसी कमी के कारण हमारा वर्तमान वार्षिक उत्पादन 10 लाख टन से थोड़ा ही ऊपर रहता है। यह बिहार, गुजरात और मध्य प्रदेश में विस्तृत रूप में तथा तमिल नाडु, कर्नाटक और महाराष्ट्र में थोड़ी मात्रा में पाया जाता है। बिहार में पलामू, गुजरात में कैरा और मध्य प्रदेश के कटनी जिलों में इसकी बहुत बड़ी खाने है, अन्यथा इसकी थोड़ी बहुत मात्रा जम्मू में कोटली तहसील से तमिल नाडु में सेलम तक मिलती हैं। चूने का पत्थर एक अन्य खनिज है जो भारत के विस्तृत भागों में मिलता है।

भारत की एकमात्र सोने की खान, कर्नाटक राज्य में कोलार स्थान पर है। यहाँ थोड़ा बहुत सोना, बहुत अधिक गहराई से प्राप्त किया जाता है।

हम सागर, झीलों तथा चट्टानों से नमक प्राप्त करते हैं। हमारा एक मात्र चट्टानी नमक का निक्षेप हिमाचल प्रदेश के मण्डी जिले में है। यहाँ से भारत के समस्त नमक उत्पादन का 1 प्रतिशत से कम प्राप्त होता है। राजस्थान की सांभर झील हमारे वार्षिक नमक उत्पादन का लगभग दसवाँ भाग उत्पन्न करती है और सागरीय नमक उत्पादन का आधे से अधिक नमक गुजरात के तटीय क्षेत्रों में बनाया जाता है। यह कारण जानने का प्रयास कीजिए कि गुजरात सागरीय नमक के उत्पादन में तमिल नाडु, महाराष्ट्र और आँध्र प्रदेश से अग्रणीय क्यों है।

ताँबा, सीसा, जस्ता, पारा इत्यादि जैसे अलौह खनिजों में से भारत में ताँबे की बहुत अधिक कमी का अनुभव होता है। ताँबे अयस्क के ज्ञात भण्डारों की व्यापारिक महत्व की मात्रा बहुत ही कम है। यद्यपि इस समय के उत्पादन (14 लाख टन 1914 में) का समस्त ताँबा बिहार के सिंहभूम, तथा हजारीबाग जिलों से आता है, किन्तु हाल ही में इसका उत्पादन राजस्थान के खेतरी क्षेत्र मे भी आरंभ हो गया है। गंधक तथा चट्टानी फास्फेट का भी, जो कि रासायन उद्योग के लिए महत्वपूर्ण कच्चा माल है, देश में अभाव सा है।

भारत के खनिज क्षेत्रों को प्रदर्शित करने वाला मानचित्र (चित्र 15) खनिजों के असमान वितरण के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तथ्य पर बल देता है। वह यह कि जहाँ भी बहुत से मूल्यवान खनिज एक दूसरे के समीप पाये जाते हैं, उन्हीं क्षेत्रों में प्रथम श्रेणी की खनिज पेटी देखने में आती है। भारत में ऐसे 9 मुख्य खनिज क्षेत्र हैं। आप इनकी स्थिति को देखकर तथा इनमें खनिजों के वितरण को देखकर, इनके महत्व को आँक सकते हैं।

प्राकृतिक संपदाओं का वर्गीकरण तथा संरक्षण

अब भारत की सभी प्राकृतिक संपदाओं को जैविक (जो जीवित जीव जन्तुओं से प्राप्त होती हैं) तथा अजैविक (बिना जीवन वाली चीजों से प्राप्त होने वाली), सम्भावित तथा विकसित, तथा 'समाप्त होने वाली' और 'कभी समाप्त न होने वाली' संपदाओं के वर्गों में बाँटना सम्भव है। खेतों में उगने वाली फसलों के समान खनिजों को प्रति वर्ष उगाया नहीं जा सकता। यदि हम फजूल खर्च करके खनिजों के भण्डार समाप्त करते जाएँ तो खनिज सदैव के लिए समाप्त हो जायेंगे क्योंकि इनके समापन पर इन्हें पुनः बना लेने पर मानव का कोई नियन्त्रण नहीं है।

खनिजों का एक बार उपयोग, इनको सदैव के लिए समाप्त कर देता है, जबकि कृषीय उपजों, जलशक्ति तथा वनों की आपूर्ति होती रहती है।

विश्व में ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ कभी सोना निकाला जाता था अथवा खनिज तेल निकाला जाता रहा है। इनके भण्डार समाप्त होने से, अब वहाँ केवल उजड़े हुए स्थान अथवा नगरों के खंडहर रह गये हैं जहाँ कभी भूतकालीन खुशहाल खनन केन्द्र थे।

वन तथा मिट्टी भी एकबार यदि कट जायें अथवा समाप्त हो जाये तो उन्हें फिर उगने अथवा बनने में बहुत समय लगता है। पौधों का उगना तथा मिट्टी का बनना, बहुत से तत्वों का लम्बे काल तक एक साथ अन्तः प्रक्रिया का अन्तिम फल है। इनमें से यदि एक में भी बाधा आ जाती है तो प्रकृति का परिस्थितिक सन्तुलन बिगड़ जाता है जो इनके समापन अथवा अपरदन को बढ़ावा देता है। हमने कृषि के लिए सिंचाई के महत्व की ओर संकेत किया है किन्तु यदि पानी का प्रबन्ध ठीक से न देखा जाये तो इससे कृषीय उपजें कम भी होने लगती हैं। नहरीय जल के अनुचित उपयोग तथा कच्ची नहरों के आस-पास के भागों में नहर के जल के भूमिगत चलते रहने से, कृषीय भूमि रेहाला बन जाती है तथा इसमें जल भरा रहता है। कुँओं द्वारा सिंचाई एक अधिक नियन्त्रित विधि है। किन्तु यदि एक सीमित क्षेत्र में अधिक संख्या में कुएँ हों और यदि प्रत्येक अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार अधिक मात्रा में पानी बाहर निकाल रहा है, तो इनमें से बहुत से सूख जायेंगे, कम से कम कुछ समय के लिये। कई बार नहर का जल सिंचित क्षेत्र के उन अन्तिम छोरों तक अपेक्षित मात्रा में नहीं पहुँच पाता जहाँ इसकी अधिक आवश्यकता होती है। भूतल पर बहने वाले या भूमिगत जल के ऐसे अधिक उपयोग के दुष्परिणामों के समाचार पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ क्षेत्रों से प्राप्त हुये हैं। मिट्टियों में यदि उर्वरक तथा अन्य उपजाऊ तत्व न मिलाए जाएँ तो इनकी भी उत्पादकता कम होती जाती है। इस प्रकार बहुत सी 'कभी न समाप्त होने वाली' संपदाओं को भी बुद्धिमत्ता से प्रयोग करना चाहिए जिससे दीर्घकाल तक इनसे मानव कल्याण होता रहे।

बहु-उद्देशीय बाँध, जोकि हमारी नदियों पर बनाए गये हैं, भारत के आधुनिक तीर्थ-स्थान कहे जाते हैं। किन्तु यदि इन नदियों के अपवाह क्षेत्र में भूमि का कटाव अनियन्त्रित होता रहा, और रेत-मिट्टी का भारी जमाव, बिजली उत्पादन के लिये जल एकत्रित करने वाले जलाशयों की जल एकत्रीकरण की क्षमता को कम करता रहा, तो यही बाँध हमारी भूलों के स्मारक भी बन जायेंगे। नदियों और झीलों के प्रदूषण से बहुत सी स्वास्थ्य बाधाओं के अतिरिक्त मत्स्य उद्योग में कमी आयेगी, जिस प्रकार वनों के कटने से अन्य जीव समाप्त हो जाते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि 'कभी न समाप्त होने वाली' संपदा भी, हमारी भूलों के परिणामस्वरूप, वस्तुतः 'समाप्त होने वाली' में बदल जाती है।

फिर भी, इस पारिभाषिक शब्द के वास्तविक अर्थ में खनिज बहुत थोड़े समय में समाप्त होने वाले हैं। यदि इनको त्रुटिपूर्ण ढंग अथवा बहुत तीव्र गति से निकालने का कार्य करते रहें तो 20 से 30 वर्ष के उपरान्त खनिजों की बहुत बड़ी मात्रा का कुछ भी शेष नहीं बचेगा। यदि ताँबा, चाँदी अथवा अलुमीनियम समाप्त हो जाये, तो हम इतनी अथाह विद्युत शक्ति को भी उसके उपभोक्ताओं तक किस प्रकार पहुँचा सकते हैं। प्लास्टिक जैसे धातुओं के प्रतिरूप पदार्थ भी अंत में कोयले जैसे कच्चे माल पर निर्भर करते हैं।

अभी हाल तक भी हमने कोयले की $1\frac{1}{2}$ मीटर से कम मोटी पर्त का खनन कार्य नहीं किया है। हम ऐसे लौह-अयस्कों को जिनमें लौहांश 60 प्रतिशत से कम है, अछूता छोड़ देते हैं। हमने ऐसी ताँबे की धातुओं को शायद ही काम में लाया है। जिनमें ताँबे के अंश, 2.3 प्रतिशत से कम रहे हों। हमने ऐसा यह सोचते हुए किया कि हमारे पास भरपूर और पर्याप्त खनिज भंडार हैं। इंग्लैण्ड में कोयले की केवल 23 सेन्टीमीटर मोटी पर्त को भी खोद निकाला जाता है तथा केवल 23 प्रतिशत लौहांश के लौह-अयस्क

को भी काम में लाये बिना छोड़ा नहीं जाता।

बहुत से वैज्ञानिकों ने हमारे उत्तम प्रकार के लौह-अयस्कों की विशाल राशि का जापान और ईरान को निर्यात ठीक नहीं माना है। अभी तो हमें इससे शुद्ध विदेशी मुद्रा मिल रही है किन्तु इस नीति से हमारा भविष्य संकट में पड़ सकता है। हमारी सबसे उत्तम प्रकार की मैंगनीज सम्भवतः पहले ही निर्यात हो चुकी है, और अब तो हम निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अभ्रक को भी व्यर्थततापूर्ण तथा कुशलताहीन विधियों द्वारा निकालते रहे हैं। आज बिहार के अभ्रक खनन क्षेत्रों में स्थान-स्थान पर, खुदाई के गड्ढों में जल भरा पड़ा है। इन त्रुटियों के कारण निकालते समय तो बहुत सा अभ्रक छोटे छोटे टुकड़ों में प्राप्त होता है और इसके बड़े शीट कम संख्या में मिल पाते हैं। हमें कोलार में सोने की खनन क्रिया को कई बार छोड़ना पड़ा है क्योंकि इतनी गहराई पर हम चट्टानों के विस्फोट तथा गर्मी को नियंत्रित न कर सके।

हम यह तो जानते ही हैं कि हम खनिजों की फालतू मात्रा का निर्यात नहीं रोक सकते, क्योंकि हमें विदेशी मुद्रा चाहिए। अकेले खनिज तेल के भारी मात्रा में आयात पर ही हमारे कुल आयात मूल्य का 60 प्रतिशत खर्च हो जाता है। ऐसे भी सुझाव दिये गये हैं कि हम देश में ही लगभग 1 खरब, 15 अरब टन मात्रा में उपलब्ध घटिया प्रकार के भूरे कोयले से रासायनिक प्रकार का तेल प्राप्त कर सकते हैं यदि इसके लिये तकनीकी जानकारी को विकसित कर पाएँ। इसके अतिरिक्त कोयले से कई रासायनिक उद्योगों को चलाने के लिये कच्चे माल का काम लिया जा सकता है। रासायनिक प्रक्रिया से गंधक जैसी बहुमूल्य गौण वस्तुएँ भी मिल सकती हैं।

अतः इस समय की विद्यमान खनिज संपदा को बहुत बुद्धिमता से उपयोग में लाना चाहिए तथा नए भंडारों के लिये अन्वेषण के साथ-साथ इनका संरक्षण भी करना चाहिए। वनस्पतिक कचरे जैसे व्यर्थ पदार्थों से रासायनिक खनिज उत्पादन को भी प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। जैसे मनुष्य को प्रस्तर युग से आधुनिक खनिजों संबंधित संस्कृति तक पहुँचने में 20,000 वर्ष लगे हैं, अब हम खनिज संपदा को खो कर वापिस पत्थर युग में धकेले जाने का विचार भी नहीं कर सकते।

स्वाध्याय

पुनरावृत्ति प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षेप में उत्तर दीजिए :
   (i) प्राकृतिक साधनों की संकल्पना किस प्रकार "संस्कृति बद्ध" कही जाती है ?
   (ii) भारत के विभिन्न भागों में वन क्षेत्रों का विस्तार ही इनकी संपन्नता तथा उपयोगिता का संकेत क्यों नहीं है ?
   (iii) 'बम्बई हाई' से आप क्या समझते हैं ?
   (iv) उन राज्यों के नाम बताइये जिनमें भारत के सबसे अधिक लौह-अयस्क, कोयला, अभ्रक तथा मैंगनीज के भण्डार है।
   (v) उन खनिजों के नाम बताइए जिनकी भारत में कमी हैं।
   (vi) भारत में भूमि-उपयोग के स्वरूपों की क्या मुख्य विशेषताएं है ?

2. अन्तर स्पष्ट कीजिए
   (i) लौह तथा अलौह खनिज
   (ii) धात्विक तथा अधात्विक खनिज
   (iii) चट्टान तथा खनिज अयस्क
   (iv) शक्ति संपदा तथा खनिज संपदा
   (v) मिट्टी का कटाव तथा मिट्टी का समापन
   (vi) आन्तरिक तथा सागरीय मत्स्य क्षेत्र
   (vii) वास्तविक सिंचित क्षेत्र तथा कुल सिंचित क्षेत्र
3. संक्षेप में उन विभिन्न कारकों का उल्लेख कीजिए, जो हमें कृषि को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध करने के लिये बाध्य करते हैं। उन तत्वों के नाम भी बताइए जो विस्तृत भूभाग को सिंचित करने में सहायक हैं। सिंचाई के विकास में कौन-सी बाधायें आती हैं ?
4. भारत में प्राकृतिक संपदाओं की कम उत्पादकता और प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग किन कारणों से होता है ?
5. भारत में प्राकृतिक संपदाओं की कमी, तथा इनका दुरुपयोग किस प्रकार कम हो सकता है ?
6. भारत के उन क्षेत्रों को निर्दिष्ट कीजिए जहाँ अब वास्तव में खनिज तेल का उत्पादन हो रहा है ? यह भी बताइये कि भारत अपनी पेट्रोलियम की आवश्यकता पूर्ति कैसे करता है ?
7. निम्नलिखित कथनों के कारणों को स्पष्ट कीजिए :
   (i) भारत के समस्त क्षेत्रफल के आधे से अधिक पर कृषि होती है फिर भी ऐसा क्षेत्रफल जिस पर वर्ष में दो या अधिक फसलें उगाई जाती हैं, कृषित क्षेत्र का केवल 15% है।
   (ii) भारत में वनों के क्षेत्रफल का सबसे कम अनुपात भारतीय मैदानों में अथवा राजस्थान तथा दक्खन के सूखे भागों में और उच्चतम हिमालयी क्षेत्रों में हैं।
   (iii) भारत में पशुओं की संख्या सबसे अधिक किन्तु इनकी उत्पादकता सबसे कम है।
   (iv) भारत में बहुत लंबा समुद्री तट है किन्तु यहीं पर मत्स्य उद्योग बहुत कम विकसित है।
8. निम्नलिखित वास्तविक कथनों के सामने सम्बन्धित अनुकूल कथन रखिए :
   (i) हमारे कृषि-क्षेत्र के दो तिहाई भाग पर 75 से० मी० से ज्यादा वार्षिक वर्षा और केवल 2% पर 25 से० मी० से कम वर्षा होती है।
   (ii) भारत में वर्ष भर लगातार गर्मी के बने रहने से वर्धन काल बहुत लम्बा रहता है।
   (iii) हमारे कुल फसली क्षेत्र के बहुत बड़े भाग पर खाद्यान्य फसलें उगाई जाती है।
   (iv) भारत के कृषित क्षेत्र के दो तिहाई भाग में उपजाऊ मिट्टियाँ मिलती है।
   (v) सन् 1951 के बाद से हमारी जल-विद्युत उत्पादन क्षमता 13 गुणा बढ़ गई है।
9. निम्नलिखित में से प्रत्येक के लिये एक तकनीकी पारिभाषिक शब्द दीजिए :
   (i) एक हेक्टेयर क्षेत्र भाग पर एक मीटर की ऊँचाई तक ठहरे हुए कुल पानी का आयतन।

(ii) नियन्त्रित अवस्थाओं में अणु के विस्फोटन से प्राप्त शक्ति।

(iii) ताप तथा प्रपात से गिराये गये जल से प्राप्त विद्युत।

स्वयं करिए तथा ढूंढ़िए

10. अपनी कक्षा में, "भारत अपनी संपदा की उचित रूप से सुरक्षा नहीं कर रहा है" विषय पर एक वाद-विवाद प्रतियोगिता आयोजित कीजिए।

11. भारत का एक मानचित्र तैयार कीजिए, जिसमें लौह-अयस्क भंडार तथा कोयला क्षेत्र प्रदर्शित किये गये हों। प्रमुख खनन केन्द्रों के नाम बताइए तथा ग्राफ द्वारा इन खनिजों के उत्पादन की वृद्धि दर्शाइए। इस कार्य के लिए भारत की नवीनतम वार्षिक सन्दर्भ-पुस्तक का उपयोग करिए।

12. निम्नलिखित में से प्रत्येक के उत्पादन की वृद्धि प्रदर्शित करने के लिये ग्राफ़ तैयार कीजिए :—

    (i) पेट्रोलियम

    (ii) शक्ति उत्पादन की स्थापित क्षमता

    (iii) सन् 1950-51 से प्रति व्यक्ति विद्युत शक्ति का उपयोग।

    अपने ग्राफ़ चित्रों के स्पष्टीकरण के लिए संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

13. निम्नलिखित के संदर्भ में समाचार पत्रों से जानकारी एकत्रित करिए :

    (i) मानसून की अनियमितता

    (ii) नदियों की बाढ़ द्वारा हुए विनाशकारी परिणाम

    (iii) सूखे की स्थितियाँ

    (iv) बड़ी-बड़ी नदियों पर बाँध, जल अवरोधक, तथा जलविद्युत शक्ति केन्द्रों का निर्माण।

अध्याय-4

भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएँ

भारत में सालभर ऐसी ऋतुएं रहती हैं जिनमें वनस्पति का वर्धन काल लम्बा रहता है। यहाँ विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ हैं और जलवायु की बहुत विविधता है। हमारे देश का एक बहुत विस्तृत भू-भाग कृषि के अन्तर्गत है। इन सब बातों के कारण भारत एक ऐसा अद्वितीय देश है जहाँ प्राय: सभी सम्भव फसलें उगाई जा सकती है। यहाँ के कृषि-उत्पादों में विभिन्न प्रकार के अन्न, दालें, पौधों वाले रेशे, पेय फसलें, फल, सब्जियाँ, तिलहन, तथा अन्य प्रकार के औद्योगिक कच्चे माल वाली फसलें हैं।

कई कृषि उत्पादों में भारत विश्व में विशिष्ट स्थान रखता है। यह चाय, गन्ना, मोटे अनाज, और कुछ तिलहनों में विश्व में अग्रणीय देश है। तथा चावल, जूट तथा बाजरा, ज्वार के उत्पादन में द्वितीय स्थान पर है। तम्बाकू, गेहूं, कपास, बिनोले तथा अलसी के उत्पादन में यह तीसरे से चौथे स्थान पर है।

भूत तथा वर्तमान काल में भारतीय कृषि की स्थिति
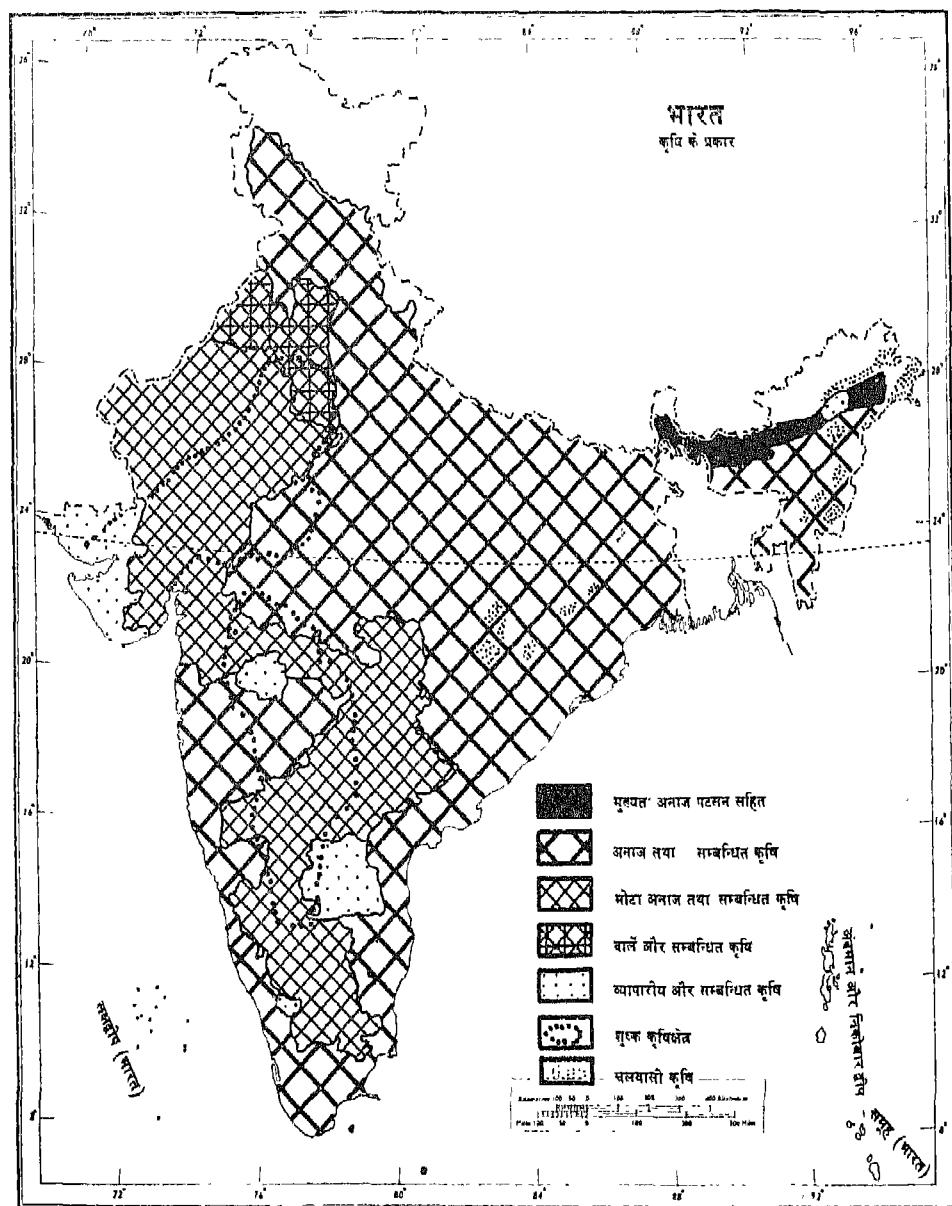
भारत की कुल श्रमिक जनसंख्या का 70 प्रतिशत से अधिक भाग कृषि पर निर्भर है।

विदेशी मुद्रा की कमाई में कृषि-उत्पादों के निर्यात का योगदान भी इतना ही महत्वपूर्ण है। कपास, जूट, तिलहनें, मसाले, चाय, काफी तथा तम्बाकू जैसी कृषि वस्तुएं 1938-39 में समस्त निर्यात के मूल्य के लगभग 49 प्रतिशत भाग बनाती थीं। यहाँ तक कि 1947 के विभाजन के कारण, जूट, कपास तथा खालों की संपदा में कमी आने पर भी, 1950-51 में समस्त निर्यात मूल्य का 41 प्रतिशत भाग कृषि-उत्पादों का ही था। पिछले दो दशकों में मुख्य कृषि उत्पादों का अनुपात, भारत के निर्यात व्यापार में घटा है। फिर भी 1973-74 के कुल निर्यात में इनका 38 प्रतिशत भाग रहा है। यदि कृषि पर आधारित निर्मित सामान भी इनमें सम्मलित कर लिया जाये तो यह देखने में आया है कि कृषि सम्बन्धित वस्तुओं का अनुपात 1950-51 में 70 प्रतिशत तथा 1973-74 में 54 प्रतिशत था।

इसकी तुलना में, कुल आयात व्यापार में, कृषि-उत्पादों का महत्व कम है। यदि कृषि में सहायक वस्तुएं जैसे उर्वरक तथा मशीनें भी सम्मिलित कर ली जायें, तब भी समस्त आयात में 1973-74 में इनका भाग 31 प्रतिशत ही था।

योजना काल के प्रारम्भ के सन् 1950-51 में कपास, जूट तथा खाद्यान्नों का आयात महत्वपूर्ण था। किन्तु योजनाबद्ध प्रयासों से, यहाँ उत्पादन

मानचित्र-16

चित्र-16 भारत के विभिन्न भागों में की जाने वाली कृषि के प्रकारों को देखो। शुष्क कृषि क्षेत्रों में किन फसलों की प्रधानता है? हमारे देश में किस प्रकार से कृषि सबसे अधिक प्रचलित है?

की वृद्धि के फलस्वरूप इनका आयात साधारण रूप में पिछले दो दशकों में कम हो गया है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व, बहुत समय तक हमारी कृषि प्रायः स्थिर सी रही है। यह मुख्यतः जीवन निर्वाह के रूप में चलती रही और किसी उद्योग के रूप में नहीं थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वाले समय में भी फसलों के उत्पादन की विधि उसी प्रकार पारंपरिक रही है। समस्त कृषित क्षेत्र का लगभग तीन चौथाई भाग खाद्यान्न उपजों की कृषि के नीचे है, और फिर भी देश खाद्य पदार्थो की आवश्यकताओं में भी आत्मनिर्भर नहीं है। बहुत बड़ी संख्या में लोग खेतों तथा फार्मो में कार्य कर रहें है किन्तु सम्पूर्ण कृषि-उत्पादों का मूल्य सन् 1950-51 में 56 प्रतिशत से घट कर 1970-71 में 45 प्रतिशत तक ही रह गया। दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरीका, जहाँ जनसंख्या के 10 प्रतिशत से भी कम लोग कृषि कार्य में लगे हैं, अपनी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त उत्पादन कर लेता है तथा बहुत बड़ी मात्रा में अतिरिक्त मात्रा को निर्यात के लिये भी प्रदान करता है ।

भारत के मानचित्र पर (चित्र 16) जिसमें समस्त भारत को 5 प्रमुख कृषि के प्रकारों में बाँटा गया है, एक दृष्टि इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि हानिकारक भूमि उपयोग की स्थानान्तरी कृषि पद्धति तथा कम उत्पादक प्रकार की बिना सिंचाई की कृषि जैसी प्रथाएँ अभी भी प्रचलित हैं। जीविका-निर्वाह कृषि, जैसी स्वतन्त्रता प्राप्ति काल से पूर्व थी, अभी भी खूब चलती है। अभी तक व्यापारिक महत्व की फसलों, सिंचित कृषि प्रणाली अथवा आधुनिक प्रकार की कृषि बहुत ही थोड़े से क्षेत्रों तक सीमित है ।

भारत के उत्तरी तथा मध्यवर्ती प्रदेशों में समस्त कृषित क्षेत्र का 70 प्रतिशत से अधिक-दक्षिणी पंजाब तथा हरियाणा, उत्तरी राजस्थान, गुजरात के कुछ भागों और असम की घाटी के ऊपरी भागों में 56 से 70 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्नों, मोटे अनाजों अथवा दालों की खेती होती है। केवल महाराष्ट्र के काली लावा मिट्टी के प्रदेश, उत्तरी कोंकण, कच्छ-काठियावाड़ तथा दक्षिणी गुजरात, केरल और मेघालय में खाद्यान्नों का अनुपात अपेक्षाकृत कम अर्थात सम्पूर्ण कृषित क्षेत्र का 15 से 56 प्रतिशत तक है ।

हाल के कुछ वर्षों में, थोड़े से कुछ क्षेत्रों में जहाँ नियन्त्रित की सिंचाई की सुविधा हो गई है, बहुत सीमित स्तर पर आधुनिक प्रकार की कृषि का विकास हो रहा है। नई तकनीकी विधियों और उचित प्रकार के बीजों, उर्वरकों तथा कीटनाशकों के समुचित तालमेल पर आधारित कृषि की उत्तम विधियों ने उन्नत कृषि को जन्म दिया है। यद्यपि ऐसे छोटे क्षेत्रों में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ देखी गई हैं, किन्तु इनका फसलों के कुल उत्पादन पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं है। हमारे देश के बहुत अधिक विस्तृत भाग पर कृषि अभी भी वर्षा पर ही निर्भर करती है। सम्पूर्ण रूप से खाद्यान्नों के उत्पादन की धीमी प्रगति के कारण यहाँ दूध, मांस अथवा मछली के अतिरिक्त प्रतिव्यक्ति भोजन सामग्री भी अपर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। हमारे कृषि क्षेत्र से ही उद्योगों को श्रमिक प्राप्त होते हैं परन्तु उद्योगों का विकास इतना नहीं हुआ जिससे कि कृषि भूमि पर आश्रित भारी जनसंख्या को जीविका के नये साधन मिल सकें। दूसरी और कृषि का विकास भी इतना धीमा रहा है कि जीवकोपार्जन के नये अवसर पर्याप्त मात्रा में प्रदान नहीं कर पाया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्, जमींदारी प्रथा जहाँ कहीं भी तथा जिस किसी भी स्वरूप में थी, समाप्त कर दी गई। कृषि योग्य भूमि, जितनी एक कृषक रख सकता है, की अधिकतम सीमा कानून द्वारा निर्धारित कर दी गई है। इसको व्यापक रूप से भूमि-सम्पत्ति की सीमा कहते हैं। बहुत से उपायों द्वारा, बहुत से राज्यों में, भूमि का स्वामित्व इसको जोतने वालों को दे दिया गया है। राज्य सरकारें कृषकों को और अधिक सुरक्षित करने के लिये भूमि सुधार का कार्य कर रही हैं। ऐसे भी उपाय किए गए हैं कि कृषि योग्य भूमि के

अधिक छोटे-छोटे टुकड़े ना होने पाएँ। इसके लिये इन उपायों में से एक उपाय भूमि सम्पत्ति की चकबन्दी है।

सरकार ने कुछ बहुत बड़े-बड़े यन्त्रसज्जित राजकीय फार्म भी स्थापित किए हैं जिनमें से सबसे प्रसिद्ध राजस्थान में 'सूरतगढ़ फार्म' है। कृषि के लिये नये यन्त्रों, विकसित बीजों तथा आधुनिक तकनीकी विधियों के प्रयोग को प्रसारित करने के लिए सरकार ने कुछ निदर्शन फार्म भी खोले हैं।

किसानों को लाभ पहुंचाने के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में बहुउद्देशीय समितियां तथा सहकारी बैंक खोले गये हैं। फसलों को समुचित रूप में बेच सकने की सुविधाएँ भी इन लोगों को प्रदान की गई हैं, जिनमें से एक यह भी है कि प्रत्येक कृषि काल प्रारम्भ होने से पहले उस काल के प्रमुख अन्नों के न्यूनतम सहायक मूल्य घोषित कर दिये जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण की वृद्धि तथा प्रस्तावित 'फसलों की बीमा योजना' भारत में कृषि के आधुनिकीकरण को और अधिक बढ़ावा देंगी। भारत में तीव्र औद्योगीकरण तथा सामाजिक-एवं-आर्थिक विकास के लिये कृषि की सुदृढ़ नींव एक आवश्यक प्रतिबन्ध है। कृषि को इतना सम्पन्न बनाना होगा कि इससे बढ़ती हुई दोनो ही प्रकार की—ग्रामीण तथा नगरीय जनसंख्या को भोजन मिल सके। यहाँ की अनुमानित जनसंख्या 2000 ई० में लगभग 90-95 करोड़ के बीच में होगी। कृषि पर आधारित बहुत से उद्योगों के लिए कच्चा माल, ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों के लिये रोजगार, आधुनिक प्रकार की कृषि के लिये धन, और कृषि सम्बन्धित वस्तुओं का अधिक अतिरिक्त मात्रा में निर्यात करके विदेशी मुद्रा, प्रदान करने के लिए कृषि को समर्थ होना है। भारत में संपदा के योजनाबद्ध विकास के प्रयासों के फलस्वरूप, आने वाले वर्षों में कृषि तथा अन्य उद्योगों के मध्य आपसी निर्भरता बढ़ेगी।

आर्द्र तथा शुष्क कृषि के प्रदेश

भारत की मानसूनी जलवायु में, भौतिक वातावरण के सभी घटकों में से, कृषित भूमि के क्षेत्र पर वर्षा का प्रमुख नियन्त्रण है। भारत के गर्म-आर्द्र प्रदेशों जैसे असम, पश्चिमी तटीय भागों, विशेषकर केरल और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में फसलों के लिये बहुत थोड़ी मात्रा में पानी की कमी है। भारत के कम-आर्द्र भागों में जहाँ 75 से०मी० से 100 से० मी० तक वर्षा होती है, साल के दो तिहाई समय में नमी की अधिक मात्रा में कमी अनुभव की जाती है। राजस्थान जैसे सूखे प्रदेश, जहाँ अल्प वर्षा 30 से० मी० से भी कम होती है, कृषि के लिए बहुत कम महत्वपूर्ण हैं। केवल अर्ध-शुष्क प्रदेशों में जहाँ वर्षा 30 से 75 से० मी० तक होती है, पानी की कमी प्राय: वर्षभर अनुभव होती रहती है, जैसे पंजाब के दक्षिणी भाग, हरियाणा, पूर्वी राजस्थान, पश्चिमी गुजरात, तथा पश्चिमी घाट के वृष्टिछाया वाले प्रदेशों में। इन भागों में वर्षा का जल या तो फसल की वृद्धि के 3 माह के समय मे 5 से० मी० से 10 से० मी० तक प्रतिमाह प्राप्त होता है अथवा 10 से 20 से० मी० प्रतिमाह 2 महीने से अधिक समय के लिये प्राप्त नहीं होता। सूखे प्रदेशों में जहाँ वर्षा 50 से० मी० से 75 से० मी० तक ही होती है, शुष्क कृषि के द्वारा अथवा सिंचाई के लिए और अधिक पानी का प्रबन्ध करके, उपज बढ़ाने की बहुत अधिक संभावना रहती है। जिन क्षेत्रों में वर्षा 30 से० मी० से 50 से० मी० तक होती है तथा सिंचाई का कोई साधन नहीं है, उनमें कृषि की उपज बहुत अनिश्चित तथा कृषित क्षेत्र बहुत सीमित रहता है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में फसलों के स्वरूपों तथा वर्षा के वितरण में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु कम वर्षा तथा उत्पादक मिट्टी वाले क्षेत्रों में सिंचाई द्वारा आर्द्रता के अभाव को पूरा किया जा सकता है। इसी लिये सतलुज, पश्चिमी तथा मध्य गंगा के मैदानों और इनके साथ लगे कुछ क्षेत्रों में, कृषि का विस्तार, कुल क्षेत्रफल के आधे भाग पर कर लिया गया है। सिंचाई की सहायता से पूर्वी तटीय मैदान के सीमित भागों में वास्तविक कृषि-क्षेत्र 40 प्रतिशत के आस-पास है। महाराष्ट्र तथा
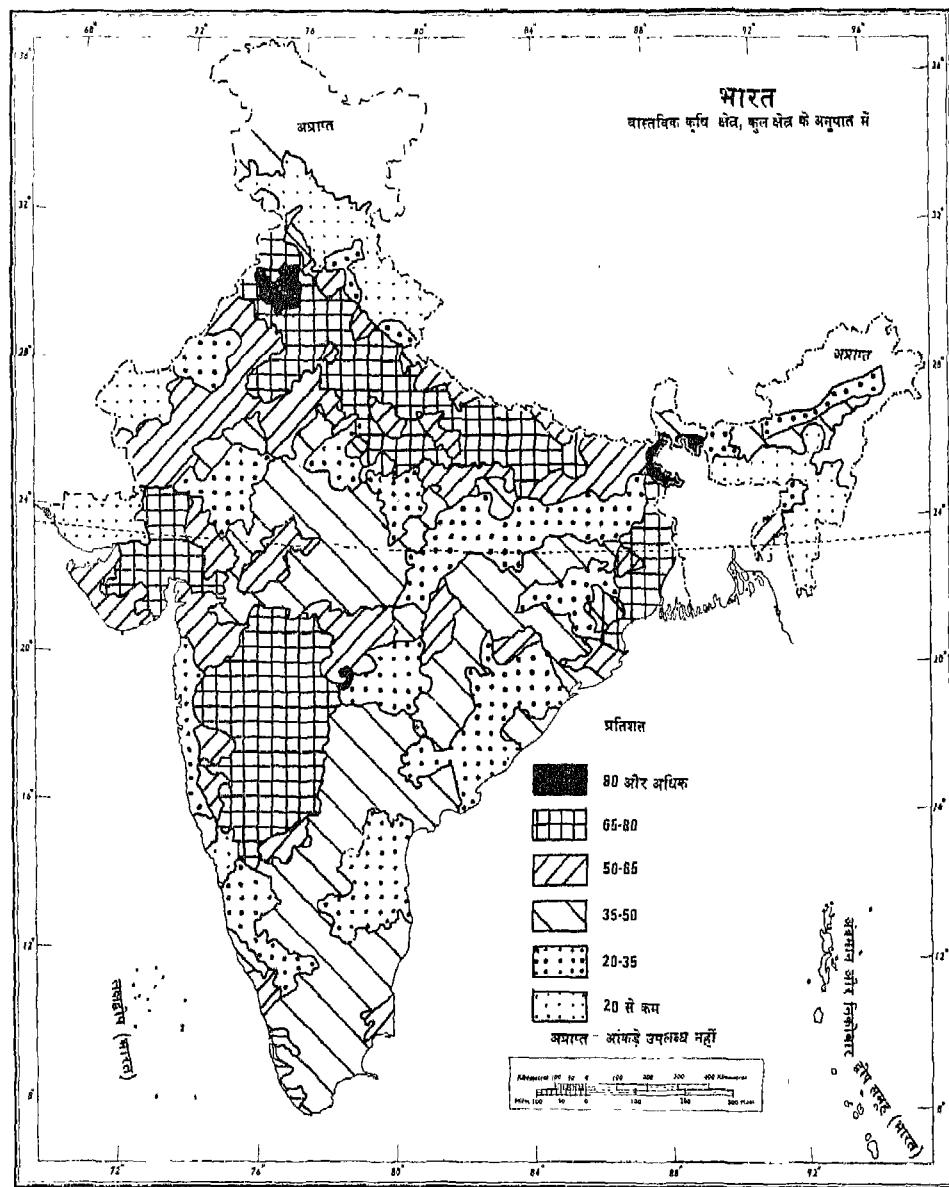
दक्षिणी गुजरात की काली लावा से प्राप्त मिट्टी वर्षा के जल को बहुत देर तक के लिये सोख लेती है। इस कारण बिना सिंचाई के भी, इन शुष्क भागों में कृषि-क्षेत्र अधिक है। इसके विपरीत देश के अनेक भागों में जहाँ वर्षा कम है, मिट्टी अनुपजाऊ है या अच्छी सिंचाई व्यवस्था का भी अभाव है, कृषि-क्षेत्र घट कर कुल क्षेत्रफल के एक तिहाई से भी कम रह गया है। (चित्र-17) जरूरत इस बात की है कि वर्षा तथा अत्याधिक सिंचाई दोनों पर कृषि की निर्भरता को कम करने के लिये, पानी का कुशलता-पूर्वक समुचित सदुपयोग किया जाये।

भारत में पुरानी बड़ी नहर योजनाएं पंजाब, हरियाणा, गंगा के मैदानों तथा कृष्णा-गोदावरी और कावेरी के डेल्टा प्रदेशों की हैं। इन प्रावधानों से देश के इन भागों में विभिन्न राज्यों का समस्त सिंचित क्षेत्र 33 प्रतिशत से लेकर लगभग 60 प्रतिशत तक जा पहुंचा है। काश्मीर की घाटी में 95 प्रतिशत से अधिक सिंचित क्षेत्र नहरों द्वारा सींचा जाता है। स्वतंत्र भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में भाखड़ा-नंगल, व्यास बांध, तथा विशाल राजस्थान नहर प्रणाली, पश्चिमी बंगाल में दामोदर घाटी योजना, उड़ीसा में हीराकुंड, बिहार में कोसी परियोजना, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में तुंगभद्रा, और आंध्रप्रदेश में नागार्जुनसागर का उदय नई सिंचाई तथा बहु-उद्देशीय योजनाओं के रूप में हुआ है।

इन प्रमुख सिंचाई योजनाओं के अतिरिक्त कई छोटी सिंचाई योजनाएँ निर्माणाधीन हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मैदानों में, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब तथा हरियाणा के क्षेत्रों में कुओं द्वारा सिंचाई महत्वपूर्ण बन गई है। इन भागों में कुल सिंचित क्षेत्र का लगभग आधे से अधिक भाग कुओं द्वारा सींचा जाता है। तमिलनाडु के ऊपरी भाग, बिहार के मैदान तथा कर्नाटक पठार पर कुल सिंचित क्षेत्र का लगभग 20 से 30 प्रतिशत क्षेत्र कुओं तथा नलकूपों द्वारा सींचा जाता है। भारतीय प्रायद्वीप के अधिकतर भागों में स्थलाकृतियों के अनुरूप बहुत समय से तालाब तथा कम गहरे कुएं सिंचाई के प्रमुख साधन रहे हैं। यहां तक कि उड़ीसा में सिंचित क्षेत्र का 51 प्रतिशत, तमिलनाडु, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में एक तिहाई, तथा राजस्थान, महाराष्ट्र, केरल तथा बंगाल में 10 से 20 प्रतिशत तक कृषि क्षेत्र तालाबों द्वारा सींचा जाता है। इस ऊबड़-खाबड़ और पथरीले भू-प्रदेश में धरातल पर इधर-उधर बड़ी संख्या में निर्मित ये तालाब वर्षा के जल-संग्रह का एक मात्र साधन हैं।

भारत में वास्तविक सिंचित क्षेत्र का 40 प्रतिशत नहरों द्वारा, 38 प्रतिशत कुओं द्वारा तथा 15 प्रतिशत तालाबों द्वारा सींचा जाता है। देश में समस्त प्रकार के साधनों द्वारा कुल सिंचित क्षेत्र 1950-51 में 2 करोड़ 9 लाख हेक्टेयर, सन् 1972-73 में बढ़ कर 3 करोड़ 19 लाख हेक्टेयर हो गया। इस प्रकार इस काल में कुल सिंचित क्षेत्र में एक करोड़ साठ लाख हेक्टेयर की शुद्ध वृद्धि हुई है। अब हमारे वास्तविक बोए हुए क्षेत्र का 22.7 प्रतिशत भाग सिंचित है। और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सन् 2000 ई० तक कुल सिंचित क्षेत्र समस्त बोए गये क्षेत्र का 42 प्रतिशत हो जाएगा। यह संख्या बड़ी प्रभावशाली प्रतीत होती है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सिंचाई के विकास की वर्तमान गति से भी, सन् 2000 ई० में हमारे फसलों के अन्तर्गत समस्त क्षेत्र का 60 प्रतिशत क्षेत्र फिर भी वर्षा पर निर्भर होगा। इसलिए भारतीय कृषि में, वर्षा पर निर्भर कृषि प्रायः एक सनातन स्वरूप, के रूप में अपना प्रभुत्व बनाए रखेगी। भारत के विभिन्न राज्यों में सिंचित क्षेत्र के वितरण में बहुत अधिक असमानताएं हैं। जब कि कुल फसलों के क्षेत्र का सिंचित अनुपात पंजाब में 75 प्रतिशत, हरियाणा तथा तमिल नाडु में 45 प्रतिशत, आंध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में 33 प्रतिशत है, यह बिहार, बंगाल, असम और केरल में केवल 20-25 प्रतिशत तक है, और सबसे

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line

मानचित्र-17

चित्र-17 उत्तरी पूर्वी और पूर्वी तटीय प्रदेशों की अपेक्षा शुष्क दक्कन लावा प्रदेश का अधिक क्षेत्र कृषि के अंतर्गत क्यों है ? इस मानचित्र और वन वितरण दिखलाने वाले मानचित्र के मध्य तुम किस प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध पाते हो ?

बड़े दो राज्यों महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश में 10 प्रतिशत से भी कम है। भारत के 302 जिलों में से, जिनके विषय में आँकड़े उपलब्ध है, केवल 40 अथवा 13 प्रतिशत में 50 प्रतिशत से अधिक वास्तविक सिंचित क्षेत्र हैं। एक तिहाई जिलों में 10 प्रतिशत से कम और 20 प्रतिशत जिलों में 30 से 50 प्रतिशत के बीच में सिंचित क्षेत्र पाया जाता है।

यद्यपि भारत मे, सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार की बहुत अधिक आवश्यकता है, किन्तु देश के पूर्वी मैदानी भागों के विस्तृत क्षेत्रों में से वार्षिक बाढ़ के पानी की निकासी भी उतनी ही जरूरी है। भारत में 2 करोड़ हेक्टेयर भूमि बाढ़ से प्रभावित होती है। जहाँ बाढ़ अतिवृष्टि तथा पानी के धरातलीय बहाव के कारण आती हैं, वहाँ अकाल इनकी कमी के कारण पड़ते है। आर्द्र तथा शुष्क प्रदेशों में कृषि के लिए ये दोनों समस्याएँ रहती हैं।

आर्द्र प्रदेशों के कृषित भागों में बाढ़ तथा वार्षिक जलमग्नता को नियंत्रित करके आर्द्र कृषि की जाती है। इन कृषित भागों में गहन कृषि तथा शुष्क भागों में सिंचाई को सुविधाएँ प्रदान करके प्रति हेक्टेयर पैदावार की वृद्धि की संभावनाओं को बढ़ाया गया है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि सिंचाई के विस्तार का क्षेत्र तथा इसकी संभावनाएं असीमित नहीं हैं। हमने देख लिया है कि देश में कृषि का एक बहुत बड़ा भाग लगातार वर्षा-जल पर निर्भर करता रहेगा। भारत ने सन् 1950-51 से अब तक सिंचित क्षेत्रों में तथा वर्षा प्राप्ति के विश्वसनीय क्षेत्रों में कृषि विकास की दिशा में बहुत सी सफलताएं प्राप्त की हैं। अधिक उपज का लाभ प्राप्त करने के लिये अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग तथा बहु-फसल उत्पादन पद्धति का विस्तार शुष्क प्रदेशों में भी करना चाहिए। सन् 1970-71 से मध्यवर्ती प्रायद्वीपीय प्रदेश में शुष्क कृषि के आधुनिक तकनीक के प्रयोग की संभावनाओं पर विचार किया जा रहा है। ये क्षेत्र पश्चिमी घाट की वृष्टिछाया में पड़ने वाले दक्षिणी राज्यों तथा गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार के कुछ भागों, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा के अर्ध-शुष्क भागों के हैं। देश के इन भागों में भूमि की नमी को बनाए रखने और वर्षा के जल को, (जो कि यहां इतना कम नहीं है जितना कि इसके वितरण की असमानता है) अवरुद्ध करने, तथा सूखे को सहन कर सकने वाली फसलों को बोने की संभावनाएं देखने में आई हैं। भूमि के कटाव को रोकने और इसकी नमी को बनाए रखने के लिए पुश्ते बांधने, समोच्च रेखाओं के अनुरूप खेतों की जुताई करने तथा शुष्क कृषि में अन्य सहायक विधियों को लागू करने के उपाय किये गये हैं। ऐसे भागों में जहाँ किसी प्रकार की सिंचाई की सुविधा नहीं है, वर्षा के जल की अधिकतम संभव मात्रा को तालाबों, गड्ढों, भूमि अवरोधकों तथा भौम जल के रूप में रोका जा सकता है। इस जल को आवश्यकता पड़ने पर फसलों को सूखे से बचाने के लिए तथा वर्ष में एक से अधिक फसलें उत्पन्न करने के लिए, उपयोग में लाया जा सकता है।

मानसून वर्षा के आगमन तथा इसके बाद की अवधि में हर मास चार बार कृषित क्षेत्र में हल चलाने, पौधों को दूर-दूर लगाने तथा कई फसलों को मिलाकर उगाने से इस कृषि पद्धति को कार्यान्वित किया जा सकता है। आइये अब पश्चिमी घाट के वृष्टि छाया प्रदेश में पड़ने वाले कर्नाटक के शुष्क कृषि की विधियों को विशिष्ट उदाहरणार्थ अध्ययन के आधार पर, विस्तृत रूप से समझें। इस क्षेत्र में 1500 मीटर ऊंची पश्चिमी घाट श्रेणी की ओट में पड़ने वाले 400 से 600 मीटर (समुद्र-तल से) ऊंचे पठारीय जिले हैं। यहाँ पर मिट्टी लाल, बलुई, लेटेराइट हैं जिसमें कहीं-कहीं कुछ साधारण गहराई की काली मिट्टी के क्षेत्र भी हैं। यहाँ चावल की खेती के लिए वर्षा पर्याप्त नहीं है। खरीफ (गर्मी की फसल की ऋतु) की अवधि में यहाँ का ऊंचा नीचा धरातल वर्षा के जल को रोकने में सहायक है। इस प्रकार

के जल प्रबन्ध की ऐसी समुचित विधियों के अतिरिक्त यहाँ भूमि उपयोग की उचित योजना को भी आवश्यक समझा गया है। वैकल्पिक उपयुक्त फसलों को विभिन्न वर्षों में जल्दी तथा देर से आने वाली वर्षा के अनुरूप बोने का प्रयोग यहाँ करना पड़ेगा। फसलों की बोआई के समय को अधिक संभव वर्षा की मात्रा तथा वर्षा के आगमन के अनुसार निश्चित करना होगा। धान की फसल को तालाबों के जल-ग्रहण क्षेत्रों के निचले भागों तक सीमित रखना होगा। कर्नाटक के अधिकतर ऊंचे पहाड़ी भागों में तलाबों के जलग्रहण क्षेत्र के ऊपरी पहुँच वाले भागों में, खरीफ तथा रबी (शीतकालीन फसली ऋतु) दोनों फसलों में, मक्का की खेती अच्छी होती है। जहाँ पर मिट्टी, पानी को न तो धरातल पर और न ही अपने अन्दर रोक सकती है वहाँ की कम वर्षा मोटे अनाजों के अतिरिक्त अन्य फसलों के लिए अपर्याप्त रहती है। वर्षा की कमी वाले ऐसे भागों में सूर्यमुखी, तोरिया तथा सरसों जैसे तिलहन उत्पन्न किए जा सकते हैं। वर्षा के ऊपर निर्भर कपास केवल उन्हीं क्षेत्रों में उगाई जा सकती है जो अपेक्षाकृत अधिक निश्चित वर्षा के क्षेत्र हैं।

आर्द्र अथा शुष्क क्षेत्रों के मध्यवर्ती संक्रमण क्षेत्र में जहाँ वर्षा कम होती है तथा जिसमें वर्षा के मासिक तथा मौसमी वितरण में बहुत असमानता है, मक्का तथा सूर्यमुखी के साथ शस्यावर्तन में सोयाबीन की अच्छी उपज की बहुत संभावना है। सिंचित क्षेत्रों में भी धान की फसल के स्थान पर कपास, तिलहन, दालों अथवा मक्का की फसलों को लगाने से अधिक लाभ लिया जा सकता है। कर्नाटक में मैसूर तथा धारवाड़ जिलों के तिब्बती आवास क्षेत्रों में धान के स्थान पर मक्का की खेती, जो कि यहाँ समीपवर्ती क्षेत्रों में खूब होती है, बहुत सफलतापूर्वक की जाने लगी है। सूखे क्षेत्रों में गेहूं तथा कपास के बदले में सूर्यमुखी बहुत उत्तम सिद्ध हुई है। जहाँ कहीं भी अधिक वर्षा थोड़े-थोड़े समय के लिए मई तथा सितम्बर-अक्तूबर में दो बार होती है, केवल वर्षा के जल से ही दो फसलें उगा लेना वहाँ संभव हो चला है। सूखे क्षेत्रों में गेहूं तथा कपास के बदले में सूर्यमुखी बहुत उत्तम सिद्ध हुई है।

इस प्रकार शुष्क कृषि इस बात पर बल देती है कि केवल उपयुक्त कृषि योग्य फसलों को ही, उपयुक्त ऐसे क्षेत्रों में लगाया जाये जहाँ नमी को देर तक रख सकने वाली मिट्टियाँ हों अथवा पानी को एकत्रित करने की सुविधा हो। अन्य कृषित क्षेत्रों में वृक्षारोपण अधिक उपयुक्त होगा। केरल तथा असम में वर्षा 7-9 माह तक होती है, और राजस्थान तथा दक्कन में केवल कुछ दिनों तक ही। भारत में हमें इन्हीं प्रकार की स्थितियों में रहना है। अत: इसके अनुरूप उपयुक्त फसलों की योजना बनाकर इस वस्तुस्थिति से निपटा जा सकता है। कुछ ऐसे ही कम वर्षा के क्षेत्रों में रासायनिक तत्वों से 'कृत्रिम वर्षा' भी उत्पन्न की जा सकती है। इन रासायनों को ऐसे बादलों के अन्दर फेंका जाता है जो संघनन बिन्दु के निकट हों।

शुष्क तथा कम वर्षा के क्षेत्रों में केवल वर्षा पर निर्भर स्थितियों में भी कृषि उपजों में काफी मात्रा में स्थायित्व लाया जा सकता है। फसलों के स्वरूप को बदल कर तथा किसानों को उनके परिश्रम तथा लागत के अनुरूप लाभ पहुंचाने से हम फसलों की उपज को स्थायित्व प्रदान कर सकते हैं।

फसलों की गहनता

यहाँ गहनता से अभिप्राय यह है कि एक खेत में एक कृषि-वर्ष में कितनी फसलें उगाई जाती है। यदि वर्ष में केवल एक फसल उगाई जाती है तो फसल का सूचकांक 100 है, और यदि दो फसलें उगाई जाती है तो यह 200 होगा। जितना यह अंक कम होगा उतनी ही भूमि उपयोग की क्षमता भी कम होगी। यह देखा गया है कि फसलों के उत्पादन के लिए वास्तविक बोए जाने वाले क्षेत्र का विस्तार, मनुष्यों के रीति-रिवाजों, सिंचाई के प्राकृतिक तथा कृत्रिम साधनों की संभावनाओं, अथवा शुष्क कृषि की विधियों पर निर्भर करता है। बहुत सा वास्तविक कृषित क्षेत्र ऐसा है जिसमें बहुत कम वर्षा होती है तथा सिंचाई के
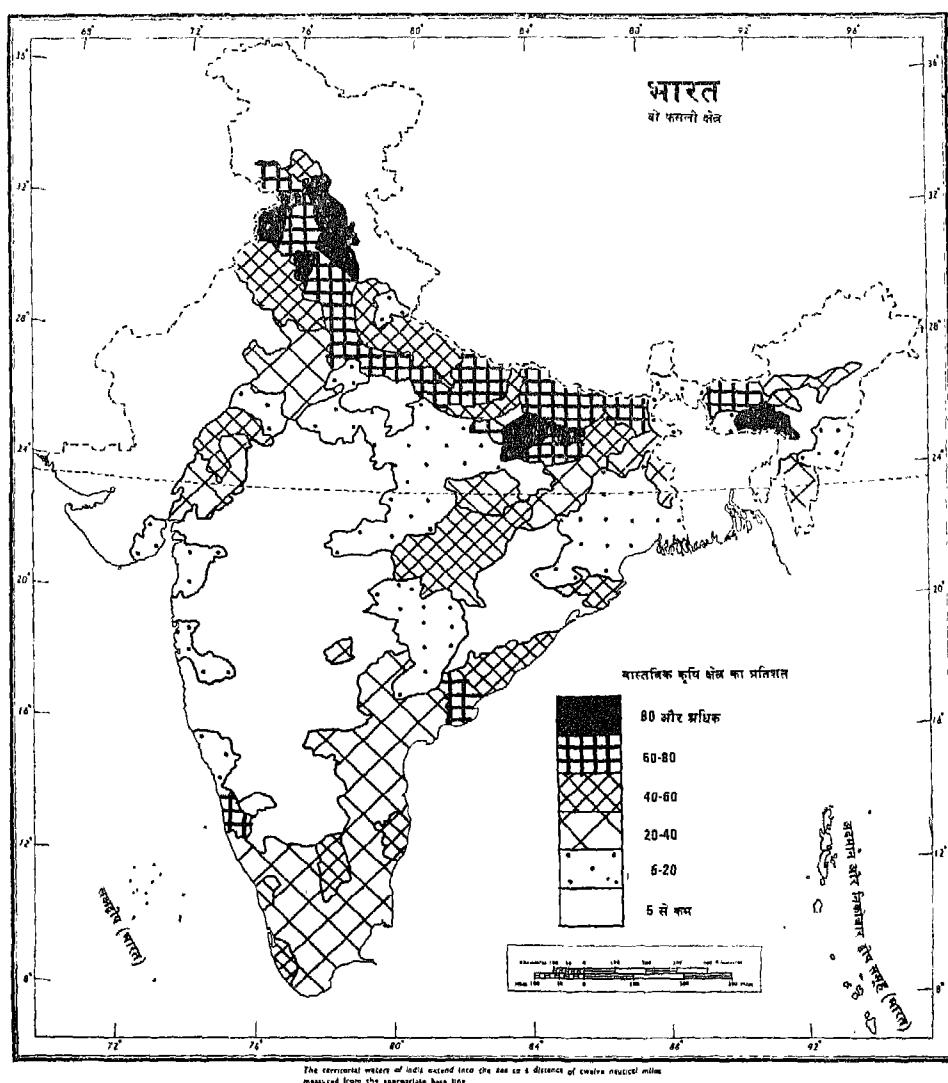
साधनों की सुविधाएं सीमित रहती हैं। बहुत से क्षेत्र कुछ अवधि तक जलमग्न या बाढ़ ग्रस्त रहते हैं। अतः ऐसे क्षेत्रों से हम सम्पूर्ण अधिकतम लाभ नहीं उठा सकते। इन क्षेत्रों के विस्तृत भू-भाग पर साल में केवल एक ही फसल उग पाती है। क्षेत्र में बहुत सीमित ही वर्ष में दो या तीन फसल तैयार होती हैं। मानचित्र (चित्र 14) पर एक दृष्टि डालने से मालूम होता है कि राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश में वास्तविक बोए जाने वाले क्षेत्र का 75 प्रतिशत से अधिक भाग केवल वर्षा पर निर्भर करता है और इसलिए सूखे के प्राकृतिक प्रकोप से बहुधा पीड़ित रहता है। फिर भी केवल वर्षा पर निर्भर यह कृषि क्षेत्र भारत को कृषि उपज का 40 प्रतिशत प्रदान करता है।

प्रथम तीन योजना कालों में वास्तविक कृषित क्षेत्र का विस्तार करके अर्थात नये क्षेत्रों को कृषि योग्य बनाकर, फसली क्षेत्र तथा उपज दोनों बढ़ते रहे हैं। परन्तु अब कृषि क्षेत्र को इस प्रकार बढ़ाने की संभावना बहुत कम रह गई है। कृषि योग्य बंजर और पुरानी परती भूमि, जिसका कुछ भाग पहले कृषि के लिए सुधार लिया गया था, अब या तो अनुपजाऊ है अथवा इतनी दुर्गम है कि इसके ऊपर खेती नहीं हो सकती। अधिक कृषि उपज प्राप्त करने के लिए अब विस्तृत खेती के स्थान पर गहन कृषि के अभ्यास से प्रति हेक्टेयर उत्पादन बढ़ाने के सिवा और कोई चारा नहीं। यह परिणाम सिंचाई की सुविधाओं, उर्वरकों के उपयोग, उपयुक्त शस्यावर्तन, उपयुक्त यंत्रीकरण तथा शीघ्र तैयार होने वाली फसलों के प्रचलन से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। सिंचाई की सहायता से शुष्क अवधि में भी फसलें उगाई जा सकती हैं। उर्वरकों का उपयोग तथा अन्य साधनों का प्रयोग साधारणतया सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करके तथा सूखे क्षेत्रों की आर्थिक दशा सुधार कर ही हो सकता है।

सन् 1950-51 से 1972-73 के काल में, वास्तविक बोया जाने वाला क्षेत्र 15.5 प्रतिशत बढ़ा है जिससे कुल फसली क्षेत्र अथवा कृषित क्षेत्र में 22.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। वास्तविक बोये जाने वाले क्षेत्र को सन् 1950 में 11 करोड़ 87 लाख हेक्टेयर से सन् 1973 तक 13 करोड़ 71 लाख हेक्टेयर बढ़ा कर कुल बोया जाने वाला क्षेत्र 13 करोड़, 19 लाख से 16 करोड़, 19 लाख हेक्टेयर कर लिया गया है। इसके फलस्वरूप फसलों की गहनता में 6.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यह उपलब्धि, सिंचित क्षेत्र को लगभग दो गुणा बढ़ाकर करके, उर्वरकों की अधिक खपत करके, पौधों की रक्षा विधियों को अपना कर, मिट्टियों के सुरक्षण तथा सुधार से और भारतीय कृषि की सामान्य व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करके की गई है। भारत के बहुत से भागों में फसलों की अधिक गहनता तथा एक से अधिक बार बोए जाने वाले क्षेत्र में वृद्धि से प्रति हेक्टेयर उत्पादकता बढ़ी है अथवा इसमें स्थायित्व आया है।

प्रादेशिक स्तर पर (चित्र 18) दक्कन, राजस्थान, काठियावाड़ जैसे शुष्क भागों, आर्द्र पूर्वी पहाड़ियों, ऊपरी ब्रह्मपुत्र घाटी, और ठंडे (ग्रीष्मकालीन फसलों) काश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश जैसे क्षेत्रों में फसलों की गहनता में धीमी वृद्धि हुई है। तमिलनाडु के ऊंचे तथा कर्नाटक के पठारी भागों, मध्यवर्ती भारत की पहाड़ियों, पंजाब—हरियाणा के दक्षिणी-पश्चिमी भागों, सतलुज-घग्घर, और गंगा-घाघरा के दोआब क्षेत्रों में फसलों की गहनता में अर्थात दो फसली क्षेत्र में सामान्य सी वृद्धि हुई है। इस कृषि-क्षेत्र में कम अथवा साधारण सी उपलब्धि उन भागों में देखने में आई है जहाँ सिंचाई के साधन कम हैं, मिट्टियों तथा जलवायु की दशा प्रतिकूल है या नहरी पानी की मात्रा अनियमित रही है। फसलों की अधिक गहनता के क्षेत्र साधारणतः पूर्वी तटीय मैदानों, पश्चिमी असम घाटी, त्रिपुरा मैदान, तथा उत्तरी विस्तृत मैदानों के अनेक भागों में देखे जा सकते हैं। इन सभी भागों में 80-100 से० मी० और इससे भी अधिक वार्षिक वर्षा होती है। यहाँ की भूमि उपजाऊ है तथा अधिक विकसित सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं।

चित्र-18 भारत के एक बहुत बड़े भाग में फसल की गहनता निम्नतम है, इस पर ध्यान दो। इन क्षेत्रों की सामान्य दशाओं की तुलना उन क्षेत्रों से करो जो दो फसली हैं।

भारत में भूमि के कम उपयोग की समस्या नहीं है। उपयुक्त क्षेत्रों का अधिकतम भाग पहले ही कृषि के लिए जुताई में आ गया है। मुख्य समस्या वास्तविक बोये जाने वाले क्षेत्रों के कम उपयोग की है। अपनी बढ़ती हुई इतनी अधिक जनसंख्या की आवश्यकता पूर्ति के लिए इस क्षेत्र को गहन कृषि के द्वारा और अधिक उपजाऊ बनाने की आवश्यकता है।

शस्यावर्तन तथा फसलों का तालमेल

हम जानते हैं कि उर्वरकों का प्रयोग भूमि को, अपनी उपजाऊ शक्ति को पुन: प्राप्त करने में सहायक होता है। इससे कृषित भूमि को परती छोड़ने की आवश्यकता कम हो जाती है। उचित शस्यावर्तन प्रणाली के अनुसार फसलों को एक ही खेत में एक के बाद एक क्रमबद्धता में लगाते हैं। इस ढंग से फसलें अपने पौधों के लिए पोषक तत्व भूमि की विभिन्न पर्तों से विभिन्न अनुपात में प्राप्त करती हैं अथवा कोई फसल ऐसे तत्वों को मिट्टी में लौटा देती हैं जिन्हें अन्य प्रकार की फसलों ने भूमि से अपने पोषण हेतु निकाल लिया हो। इस विधि से कृषि भूमि के उपजाऊपन की शक्ति को बनाए रखते हुए अनेकों फसले उगाई जा सकती हैं। यदि इन सब बातों को एक साथ लिया जाए तो, शस्यावर्तन दोहरी फसलें, मिश्रित फसलें, और सिंचाई तथा कीट पतंगों का नियंत्रण भी कृषि की ही विधियाँ हैं।

शस्यावर्तन तथा भूमि को परती छोड़ने का तात्पर्य भूमि को वे सब पोषक तत्व प्रदान करना है जो हर साल एक ही फसल उगाने से समाप्त होने लगते हैं। हल्की तथा कम उपजाऊ मिट्टी वाली भूमि को प्रत्येक फसल के बाद पुन: उपजाऊ बनाने के लिए 6 या 7 वर्षों तक भी परती छोड़ना पड़ता है। उपजाऊ मिट्टी के भागों में भूमि को प्रत्येक तीसरे, चौथे, अथवा पाँचवे वर्ष के पश्चात् फिर से उपजाऊपन प्राप्त करने के लिए परती छोड़ा जाता है। उर्वरकों के प्रयोग ने परती भूमि के क्षेत्र को सन् 1950-51 में 2 करोड़, 81 लाख हेक्टेयर से सन् 1967-68 तक 2 करोड़ 8 लाख हेक्टेयर कम कर दिया था। शस्यावर्तन प्रणाली में भूमि को तीन या पाँच वर्षों में एक बार परती छोड़ना सम्मिलित है, यद्यपि न्यूनतम भूमि को परती रखने का प्रयत्न किया जाता है।

शस्यावर्तन प्रणाली में सबसे अधिक सामान्य फलियों वाली फसलों को बोया जाना है। ये भूमि में नाईट्रोजन बढ़ाती हैं तथा कपास और अनाज जैसी फसलों (जो नत्रजन को समाप्त कर देती हैं) के उपरान्त बोई जाती हैं। तिलहन भी नत्र-जन को बढ़ाती हैं किन्तु इनका अदल-बदल अनाज की फसलों के साथ ही चलता है। गन्ने तथा तम्बाकू जैसी फसलें जिनमें खूब खाद डाला जाता है, अनाजों के साथ बदल कर उगाई जाती हैं। किसी उचित शस्यावर्तन प्रणाली का चयन उस क्षेत्र की मिट्टी की वास्तविक स्थिति तथा कृषि की प्रथा पर निर्भर करता है।

फसलों के अल्पकालीन प्रकारों के प्रयोग में आने से, बहु-फसल प्रणाली का प्रचलन शुरू हो गया है। इससे मिट्टियाँ अधिक पौष्टिक तथा उपजाऊ ही नहीं होती वरन् किसानों को फसलों से अधिक आय भी मिलती है। किसान बहुत से फसल क्रमों में से, ऐसे किसी एक को चुन सकता है जिसकी बाजारी उपयोगिता और लाभदायकता अधिक हो, किसान को उससे अपनी लागत व परि-श्रम का फल मिल सके तथा स्थानीय मिट्टी और जल-वायु की दशायें अनुकूल बैठती हों।

फसलों की मिश्रित प्रणाली में फसलों को इस प्रकार मिला करके उगाया जाता है कि जो पोषक तत्व एक फसल द्वारा कम हो जाते हैं, दूसरी फसल से पूरे हो जाएं। क्योंकि विभिन्न फसलों का उत्पादन काल भिन्न होता है, इसलिए मिश्रित फसल प्रणाली को अपनाकर उन्हें बोया तो एक ही साथ जाता है परन्तु हर फसल की कटाई अलग अलग समय पर की जा सकती है। शीघ्र पकने वाली ज्वार-बाजरा और दालों जैसी फसलें, देर से तैयार होने वाली मूंगफली अथवा कपास के साथ मिला कर बोई जा सकती हैं। जब किसान एक फसल को काटने की तैयारी करने लगता है

तो दूसरी फसल संभवतया अभी उगनी आरम्भ होती है। किन्हीं दो फसलों के बाधक तत्व भिन्न होते हैं और इनके बाज़ार मूल्य भी एक दूसरे के समानान्तर नहीं चलते। ऐसे अभ्यास से यह संभव हो जाता है कि यदि किसान को एक फसल से कम दाम मिलें तो दूसरी से मिलने वाली आय ज्यादा हो। इस प्रकार मिश्रित फसल उगाने वाला किसान अपने उत्पादों के मूल्यों की अनिश्चितता को कम कर सकता है। क्योंकि प्रमुख मिश्रित-फसल योजनाएं एक प्रदेश में स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों तथा कृषि परम्पराओं के अनुसार बहुत अधिक भिन्न हैं।

हरित क्रांति-इसका मुख्य स्वरूप

भारत में खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने के हमारे प्रयत्नों के फलस्वरूप, प्रथम प्रमुख वृद्धि सन् 1964-65 में देखी गई, जब यह उपज 8 करोड़, 90 लाख टन तक पहुँच गई थी। किन्तु यह अगले दो वर्षों में क्रमश: 7 करोड़ 20 लाख टन तथा 7 करोड़, 42 लाख टन तक कम हो गई। देश खाद्यान्नों की कमी को दूर करने तथा उनका आयात समाप्त करने के लिए चिन्तित था। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि ने खाद्य पदार्थों तथा फार्मों के उत्पादों को आपूर्ति के तीव्र विस्तार की आवश्यकता को जन्म दिया। इससे यह आवश्यक हो गया कि बहु-फसल उत्पादन द्वारा कृषि की प्रति हेक्टेयर उपज को बढ़ाया जाये। इसके लिए सिंचाई का विस्तार करके उर्वरकों के उपयोग से काफी सहायता मिली है। इस शताब्दी के साठवें दशक के मध्य से, कृषि में नई महत्वपूर्ण योजना का विकास किया गया। इसमें अधिक उपज देने वाली ऐसी फसलों पर बल दिया गया जिनके लिए अधिक सिंचाई तथा उर्वरकों की अधिक मात्रा उपलब्ध हो। योजना के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों के कुल बोए जाने वाले क्षेत्र के चुने हुए भागों में गेहूं तथा चावल की नई विदेशी किस्में, तथा देश में विकसित अधिक उपज देने वाली मक्का, ज्वार, बाजरे की किस्मों का प्रयोग किया गया। इसके साथ ही ऊपर वर्णित अन्य विधिओं को भी प्रयोग में लाया गया। उर्वरकों की सहायता से अधिक उपज देने वाली फसलों की किस्मों के प्रयोग द्वारा उपलब्ध तकनीकी विकास को हरित क्रांति कहा गया है। भारत जैसे घनी जनसंख्या और समय-समय पर खाद्यान्नों की कमी वाले देश में सन् 1967 से आगे हरित क्रांति का उद्देश्य अन्न उत्पादन में क्रांति लाना था। अधिक उपज देने वाली नई किस्मों तथा कृषि के आधुनिकरण के फलस्वरूप फसलों की उपज में वृद्धि सम्भव हो सकी है। कृषि योग्य धरती भूमि पर कृषि के विस्तार से नहीं अपितु वास्तविक कृषि क्षेत्र की प्रति हेक्टेयर उपज बढ़ा कर, खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य को प्राप्त किया गया।

कृषि में इस क्रांति के सबसे अधिक आश्चर्यजनक परिणाम पंजाब के सिंचित गेहूं उत्पादन क्षेत्र में देखने में आए। यहाँ भारत के सन् 1970-71 के औसत 1307 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर उत्पादन के विपरीत 2238 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त की गई। राज्य में लुधियाना जिले में उत्पादन देश में सबसे अधिक था। यहां गेहूं की कृषि का 85 प्रतिशत भाग नियन्त्रित सिंचाई के अन्तर्गत था तथा यहाँ सन् 1960-61 से 1971-72 की अवधि में इसका प्रति हेक्टेयर औसत उत्पादन 1336 किलोग्राम से 3310 किलोग्राम तक जा पहुंचा।

चावल के विषय में, आंध्र प्रदेश के पश्चिमी गोदावरी जिले में नई महत्वपूर्ण विधियों के प्रयोग से उत्पादन में 45 प्रतिशत की वृद्धि की गई। मक्का, ज्वार तथा बाजरे के उत्पादन में भी वृद्धि पाई गई। किन्तु अधिक उपज देने वाली किस्मों का प्रभाव गेहूँ की अपेक्षा अन्य खाद्यान्नों में कम प्रभावशाली रहा है। इसके मुख्य कारण, जल तथा उर्वरक की अपर्याप्त आपूर्ति और अनेकों कृषि-जलवायु क्षेत्रों के लिये उपयुक्त किस्मों की कमी, रहे हैं। गेहूँ बोने वाले किसान ने नियंत्रित तथा निश्चित सिंचाई के बल पर नये कृषि साधनों पर अधिक खर्च करके इसके औसत उत्पादन को बढ़ाया। धान अधिकतर ग्रीष्म कालीन मानसून ऋतु में देश के वर्षा वाले

भागों में उगाया जाता है जहाँ प्राय: बाढ़ अथवा भारी वर्षा से एक खेत में डाली गई खाद, बहकर किसी दूसरे किसान के खेत में चली जाती है। जब अपने डाले गये उर्वरक का लाभ अनायास ही किसी दूसरे को मिल जाये तो इस के लिए धन खर्च करने का, प्रोत्साहन नहीं रहता। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि समान्यत: गेहूं उगाने वाले पंजाब जैसे क्षेत्रों में धान का प्रति हेक्टेयर उत्पादन भी नियंत्रित एवं आवश्यकतानुसार सिंचाई प्राप्त होने से ज्यादा रहा है। गेहूं की अधिक उपज देने वाली किस्म का विस्तार भारत के बिहार तथा बंगाल जैसे क्षेत्रों में भी हुआ है जहाँ गेहूं उत्पादन की प्रथा नहीं रही है। इस नीति का अनाजों के उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अब हमारे खेत अधिक हरे ही नहीं दीख रहे अपितु अधिक अन्न भी प्रदान कर रहे हैं तथा जलवायु सम्बन्धी बाधाओं का मुकाबला करने में अधिक समर्थ हैं।

नए कृषि संबंधी विकास के फलस्वरूप हमारे देश में खाद्यान्नों की सर्वाधिक उपज सन् 1970-71 में 10 करोड़, 72 लाख टन हुई। किन्तु फिर से उपज कम होनी आरम्भ हो गयी और सन् 1973-74 में केवल 10 करोड़, 47 लाख टन अनाज उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार 1951 से 1974 तक अन्न की उपज में केवल 2 प्रतिशत की वृद्धि हो पाई। सन् 1971 के पश्चात् खाद्यान्न-उत्पादन की वृद्धि में बाधा आई, क्योंकि गहन कृषि कार्यक्रमों की विषद प्रादेशिक भिन्नताओं को अभी भी समाप्त करना शेष हैं। नई विधियाँ केवल कुछ ही फसलों के लिए प्रयोग में लाई गई हैं तथा हरित क्रांति देश के केवल सीमित भागों में ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकी है। भारत के विभिन्न भागों में खेतों में कार्य करने वाले किसानों के असामान्य सफलताओं के लिए प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक दोनों तत्व उत्तरदायी रहे हैं।

यद्यपि, हरित क्रांति के परिणाम, उतने आशातीत नहीं रहे, जितनी आशा की जाती थी फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत के विस्तृत भागों में उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि मुख्यत: अधिक उपज देने वाली किस्मों के कार्यक्रमों की सफलता पर निर्भर करती है। अभी हाल में ही अधिक उपज देने वाली कपास की किस्में गुजरात तथा तमिलनाडु में प्रयोग में लाई गई हैं। इसी प्रकार की अनेकों किस्में अन्य स्थानों में भी प्रयोगाधीन हैं।
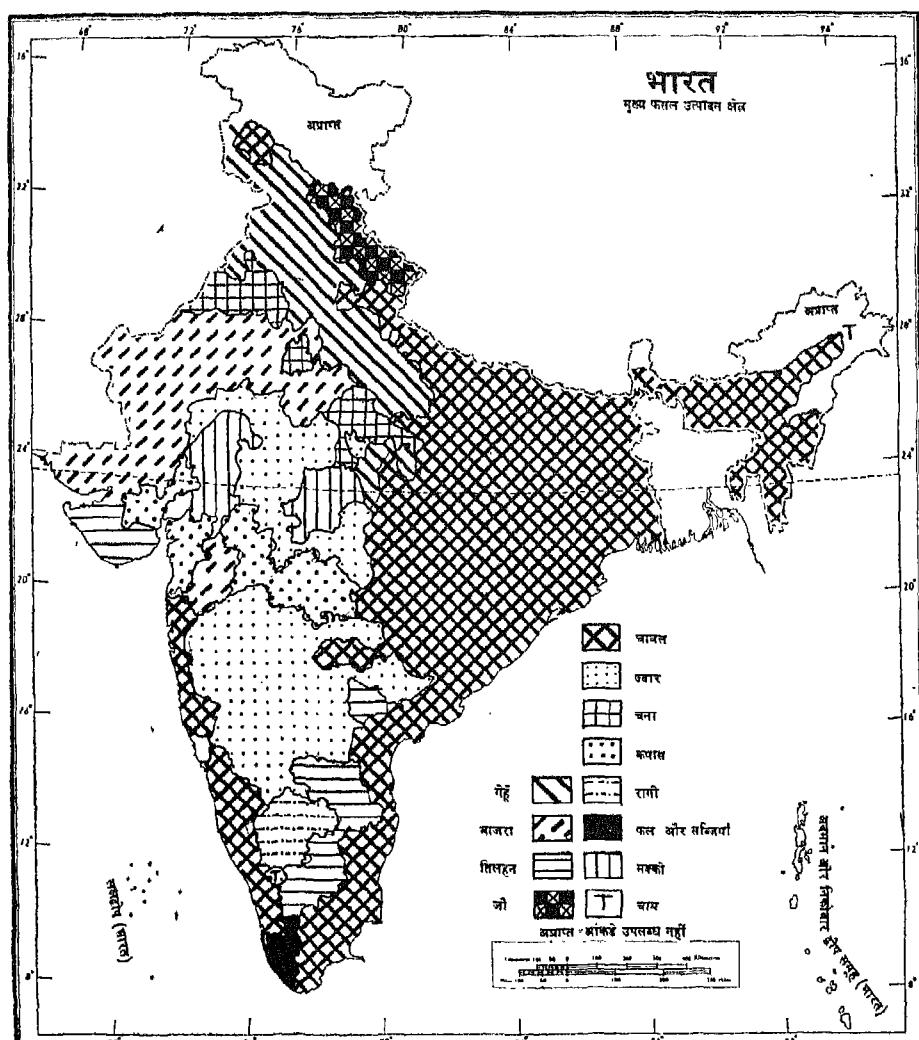
हरित क्रांति के महान योगदान के अतिरिक्त, इसका एक विपरीत परिणाम भी देखने में आया है। वह यह कि बड़े-बड़ किसानों ने सिंचित कृषि के कुछ सीमित क्षेत्रों में कृषि के आधुनिकरण से अपनी आय तथा उपज बढ़ा ली। परन्तु ऐसी नीतियों ने भारत के अनेक भागों में, वर्षा पर निर्भर रहने वाले अनगिनत लघु किसानों की अवहेलना होती रही। इससे कृषि की उपज तथा किसानों की आय में प्रादेशिक विषमता उत्पन्न हो गई। पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों के विस्तृत भाग को न तो इस क्रांति के लाभ मिले और न ही वहां शुष्क कृषि अथवा लघु सिंचाई की योजनायें चलाई गई।

भारतीय कृषि की चर्चा प्रमुख फसलों के प्रादेशिक वितरण तथा प्रत्येक के उत्पादन स्तरों की उपलब्धि की जानकारी प्राप्त किए बिना अधूरी रहेगी।

प्रमुख फसलों का प्रादेशिक वितरण

भारत को 12 फसल क्षेत्रों (चित्र 19) में बाँटा गया है। इस विभागीकरण का आधार देश के विभिन्न भागों में विभिन्न फसलों के लिए कुल कृषित भाग का आपेक्षिक क्षेत्रफल रखा गया है। यह भारत में किसी प्रथम स्थान पर आने वाली फसल विशेष को प्रदर्शित करता है जिसके लिए उस क्षेत्र के सभी सम्मिलित प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक तत्व सामूहिक रूप से सहायक हैं। प्रत्येक फसल के प्रादेशिक वितरण को समझने के लिए इस मानचित्र की सहायता आवश्यक होगी।

सन् 1966-67 से सन् 1970-71 के काल में गेहूं का उत्पादन लगभग दो गुना हो गया

मानचित्र-18

चित्र-19 प्रायद्वीपीय भारत के विभिन्न भागों में उपजाए जाने वाले प्राथमिक फसलों के नाम बताओ। भारत के किन भागों में फसल की विविधता कम है ?

है। चावल तथा मोटे अनाजों के उत्पादन तथा प्रति हेक्टेयर उपज में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। पिछले कुछ वर्षों में हरित क्रांति के कारण दालों को कुछ क्षति उठानी पड़ी है क्योंकि गेहूं जैसे अनाजों की कृषि का विस्तार दालों तथा तिलहनों के क्षेत्रों पर हुआ है। हाल ही में कपास, तिलहनों, जूट तथा गन्ने जैसे प्रत्येक फसल के उत्पादन में एक प्रकार की निश्चलता सी देखने में आई है। इनका उत्पादन तथा प्रति इकाई उपज सन् 1964-65 से सन् 1970-71 के काल में या तो कम हुई अथवा इनमें बहुत कम वृद्धि हुई है। लगभग 30 वर्ष पहले, भारत वनस्पति तेलों तथा वसा का विश्व में प्रमुख आपूर्तिकर्ता था। किन्तु अब यह खाद्य वनस्पति तेलों में अपनी घरेलू आवश्यकता पूर्ति में भी समर्थ नहीं है।

चावल

चावल के उत्पादन में भारत, चीन के पश्चात् दूसरे स्थान पर आता है और विश्व के चावल उत्पादन का पाँचवा भाग उत्पन्न करता है। फिर भी देश में इसकी भारी खपत के कारण इसका आयात करना पड़ता है। देश की समस्त फसलों के क्षेत्र के 23 प्रतिशत भाग पर इसकी कृषि होती है। इसके क्षेत्र की वृद्धि सन् 1950 से 1972 के बीच में 3 करोड़ हेक्टेयर से 3 करोड़ 70 लाख हेक्टेयर हो गई है। चावल का उत्पादन सन् 1974 में 4 करोड़ 40 लाख टन था, किन्तु इसकी प्रति हेक्टेयर उपज केवल 1151 किलोग्राम थी जो जापान की उपज का केवल एक तिहाई थी। यह देखने में आया है कि राजस्थान के अतिरिक्त चावल की कृषि विस्तृत रूप से, प्रायः भारत के सभी राज्यों में होती है (चित्र 20)।
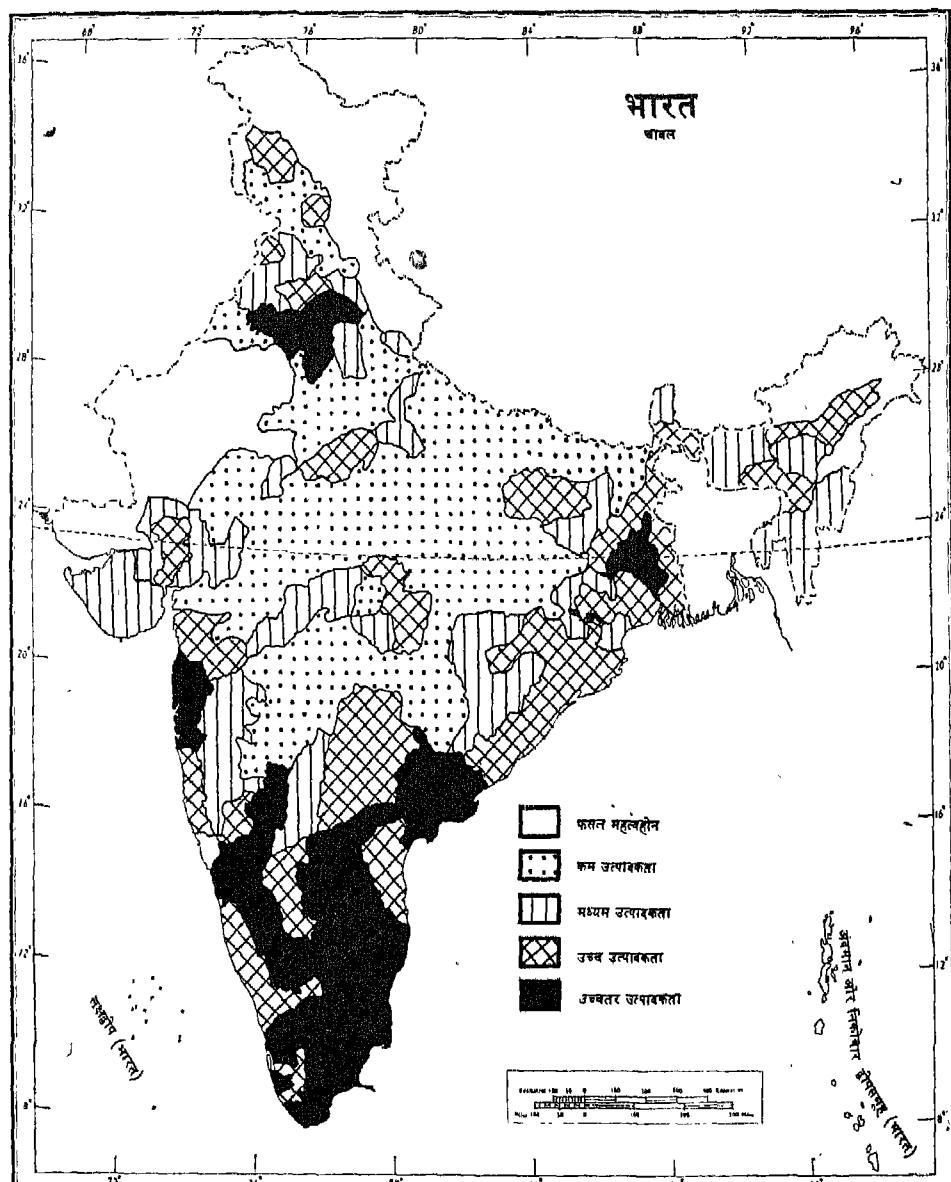
इसका वितरण मुख्यत: उत्तरी भारत के विशाल मैदानों, तटीय मैदानों, हिमालय पर्वत की निचली घाटियों के सीढ़ीनुमा खेतों तथा अन्य सिंचित सीमित क्षेत्रों में है। इसकी उपज के स्वरूप यह प्रदर्शित करते हैं कि इसकी अधिक उत्पादकता के क्षेत्र मुख्यतया प्रायद्वीपीय भारत के दक्षिणी, तथा दक्षिणी-पूर्वी भागों में तमिलनाडु, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश राज्यों में हैं। पश्चिमी बंगाल, हरियाणा, पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के उच्च उत्पादकता वाले कुछ क्षेत्रों में इसकी औसत उपज प्रति हेक्टेयर 1250 किलोग्राम से अधिक तक देखी गई है। उपरोक्त सभी क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ 100 सेन्टीमीटर से अधिक भारी वर्षा होती है तथा इसका वितरण धान के वर्धन काल में समान रूप से रहता है अन्य भागों में विस्तृत रूप से खूब सिंचाई होती है। धान के वर्धनकाल में तापमान सामान्यतया 25 सेल्सियस से अधिक रहता है। सामान्य उपज के क्षेत्र, अधिक उपज के क्षेत्रों के किनारों पर पाये जाते हैं। ये भारत के विभिन्न भागों में इधर-उधर छोटे-छोटे क्षेत्रों के रूप में बिखरे हुए हैं। कम उपज के क्षेत्र, जहाँ कहीं भी हैं, वहाँ वर्षा का असामान्य वितरण तथा पिछड़ी हुई सामाजिक आर्थिक स्थितियाँ बाधक सिद्ध होती हैं। इन भागों में न तो मिट्टी अच्छी है और न स्थानीय धरातल अनुकूल है।

गेहूं

यह हमारा दूसरे स्थान पर आने वाला महत्वपूर्ण खाद्यान्न है। यह कुल फसलों के क्षेत्रफल के एक तिहाई क्षेत्र पर बोया जाता है तथा सन् 1974 में इसका उत्पादन 2 करोड़ 18 लाख टन था। आधुनिक कृषि सम्बन्धी विधियों के प्रयोग से इसकी प्रति हेक्टेयर पैदावार 1172 किलोग्राम तक बढ़ा दी गई, जो उदाहरणार्थ अभी भी नीदरलैण्ड की उपज के पाँचवे भाग से भी कम है। सबसे अधिक औसत उपज 22 क्विंटल पंजाब में अंकित की गई, जहाँ लुधियाना जिले में, यह 30 क्विंटल प्रति हेक्टेयर थी।

गेहूं मुख्यतया उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भारत की उपज है। यहाँ यह उन क्षेत्रों में होता है जहाँ वार्षिक वर्षा 50 से 75 सेन्टीमीटर तक होती है और कुछ नमी अथवा सिंचाई का जल शीत ऋतु में इसके वर्धनकाल में भी उपलब्ध है। आरम्भिक ग्रीष्म काल में शुष्क ऋतु होनी चाहिये क्योंकि इस समय फसल कटाई के लिए तैयार हो

मानचित्र-20

चित्र-20 पंजाब और हरियाणा में जहां 100 से० मी० से कम वर्षा होती है चावल की खेती कैसे करते हैं ? चावल की उच्चतम उत्पादकता उन क्षेत्रों में पाई जाती है जो देश की प्रमुख चावल-उत्पादक पट्टी से बाहर है, इस पर ध्यान दो । इसकी व्याख्या तुम कैसे करोगे ?

जाती है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से इस फसल के लिए न तो दक्षिणी भारत की अधिक गर्मी ठीक है और न ही पूर्वी भारत के अधिक आर्द्र जलवायु वाले प्रदेश।

मानचित्र (चित्र 21) को देखने से मालूम होता है कि गेहूं के अधिक उपज के क्षेत्र भारत के विशाल उत्तरी मैदान के समस्त उत्तर-पश्चिमी भाग में फैले हुए हैं। यह क्षेत्र पूर्व तथा गुजरात की ओर संकीर्ण तथा कम महत्वपूर्ण होता जाता है। इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में पंजाब, हरियाणा, गंगा-यमुना के बीच का भाग, मध्यवर्ती उत्तर प्रदेश तथा गुजरात के कुछ जिले आते हैं। गेहूं की समस्त उपज का आधा भाग पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में उत्पन्न होता है। ऐसे क्षेत्रों की जलवायु की मुख्य विशेषता यहाँ की शीतऋतु का कम तापमान तथा 80 सेन्टीमीटर से कम वार्षिक वर्षा है। समय-समय पर शीत कालीन वर्षा जो कि पश्चिम की ओर से आने वाले चक्रवातों से होती है (जैसा कि भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में देखा गया है), इस फसल की वृद्धि में बहुत सहायक है। चूँकि यह रबी अर्थात शीत-कालीन फसल है, इसलिए सिंचाई के प्रसार ने, हाल ही में, इन क्षेत्रों में अधिक उपज देने वाली किस्मों के प्रयोग में बहुत सहायता दी है।

इन क्षेत्रों से दूर जाने पर, इसकी प्रति हेक्टेयर उपज कम होती जाती है और इसकी कृषि धीरे-धीरे महत्वहीन हो जाती है। यहाँ तक कि दक्षिणी तथा पूर्वी राज्यों में यह प्रायः लुप्त है।

ज्वार-बाजरा तथा मोटे अनाज

इस वर्ग में बाजरा, ज्वार, रोगी की फसलें, प्रमुख हैं जो दक्कन, गुजरात तथा राजस्थान के सूखे प्रदेशों में उगाई जाती हैं जहाँ खरीफ ऋतु में चावल जैसी फसलों के लिए पर्याप्त वर्षा नहीं होती।
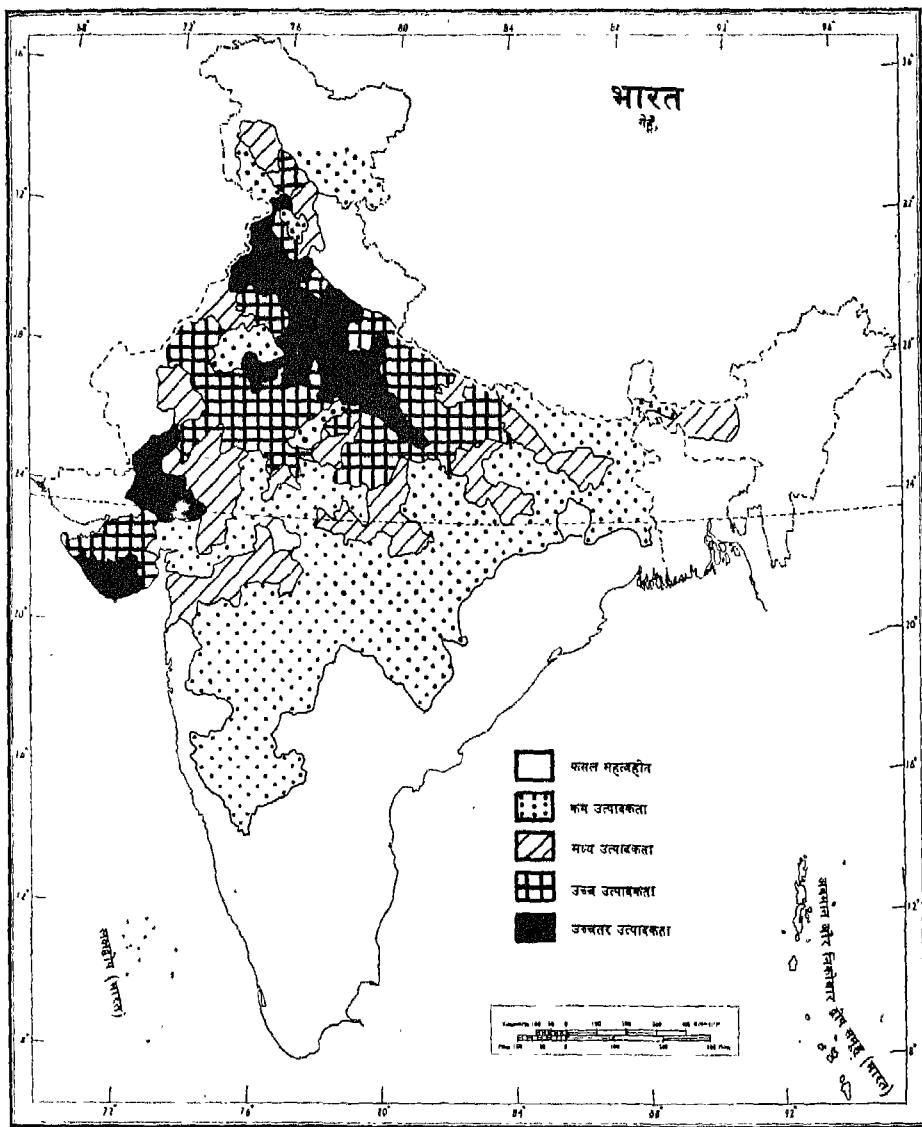
बाजरे की अधिक उत्पादकता के क्षेत्र, उदाहरण के लिए, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी उत्तर प्रदेश के जिले, उत्तरी-पूर्वी राजस्थान, तथा गुजरात के बड़ोदा के आस पास के कुछ भाग हैं। यह तमिल नाडु के निचले अक्षांशीय भागों में भी होता है। यद्यपि अपने प्राकृतिक रूप में यह अर्धशुष्क क्षेत्रों का पौधा है, किन्तु उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु भी इसके अच्छे उत्पादक हैं। इस फसल के वर्धन काल में केवल 15 सेन्टीमीटर की पर समान रूप से वितरित वर्षा अधिक अच्छी उपज दे सकती है, अपेक्षाकृत उस वर्ष के जिसमें वर्षा तो अधिक हो किन्तु इस अवधि में इसका वितरण बहुत असमान हो। वर्ष 1971-72 में ज्वार के लिए बोया गया क्षेत्र 1 करोड़ 68 लाख हेक्टेयर, तथा बाजरे के लिए 1 करोड़ 18 लाख हेक्टेयर था।

सम्मिलित रूप से सभी मोटे अनाजों जिनमें मक्का तथा जौ दोनों सम्मिलित हैं, का कुल उत्पादन 1973-74 में 2 करोड़ 38 लाख टन था। यह भारत के खाद्यान्नों की कुल उपज का 30 प्रतिशत था। राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश ने सन् 1970-71 में मोटे अनाजों के समस्त उत्पादन का 1/3 भाग उत्पन्न किया तथा गुजरात, मध्य प्रदेश, कर्नाटक और महाराष्ट्र ने इसका अन्य 38 प्रतिशत भाग दिया।

मक्का अधिक उपज वाला एक मोटा अनाज है जो सामान्य वर्षा वाले ऊँचे नीचे भागों में उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान के कुछ भागों, दक्षिण भारत तथा हिमालयी राज्यों में इसकी कृषि लगभग 60 लाख हेक्टेयर भूमि पर की जाती है।

दालें देश में बहुत भारी वर्षा के क्षेत्रों को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी भागों में पैदा कर ली जाती हैं। दालों की कृषि यदि शस्यावर्तन प्रणाली में अन्य फसलों के साथ बदल कर पैदा की जाए तो यह भूमि को उपजाऊ बनाये रखती हैं। सन् 1973-74 में इनकी कृषि का क्षेत्रफल 2 करोड़ 20 लाख हेक्टयर तथा उपज 1 करोड़ टन थी। क्योंकि इनकी कृषि गेहूं तथा खरीफ की फसलों के बीच की छोटी अवधि में होती है इसलिये बिना दूसरी फसलों के क्षेत्रफल को प्रभावित किए इनके उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

मानचित्र-21

चित्र-21 गेहूं के वितरण के अलावा यह मानचित्र इसकी प्रतिवर्ग क्षेत्र उत्पादकता को भी दिखलाता है। किस दिशा में गेहूं की उत्पादकता कम हो रही है? इसके क्या कारण है?

जौं आंशिक रूप में नकदी फसल है और भारत के समस्त बोए जाने वाले क्षेत्र के लगभग 2 प्रतिशत भाग पर उगाया जाता है। यह गेहूं के साथ ही थोड़ी हल्की मिट्टी पर बोया जाता है। इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र उत्तर प्रदेश, पूर्वी राजस्थान, उत्तर प्रदेश व हिमाचल प्रदेश के ऊँचे हिमालयी भाग हैं। ऊपरी हिमालय में यह एक खरीफ की फसल है और यहाँ की जन जातियों का मुख्य भोजन है। हमारे देश की फसल-प्रणाली में इसकी उपज में वृद्धि की बहुत ही कम सम्भावना है क्योंकि यहाँ का प्राकृतिक वातावरण इसे विस्तृत क्षेत्र पर बोने के लिए सहायक नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हरियाणा के गुड़-गांव जिले में उगाये गये जौ को इसकी आसवन तथा मद्य विशेषता के कारण, देश में व्यावसायिक फसल के रूप में उगाने की सिफारिश की गई थी।

गन्ना

भारत को गन्ने की जन्मभूमि होने का गर्व प्राप्त है और यह विश्व में गन्ने के उत्पादन में प्रथम स्थान पर है। मानचित्र (चित्र 22) देखने से ज्ञात होता है कि भारत में इसकी कृषि विस्तृत अक्षांशों में दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर-पश्चिम में पंजाब के गुरदासपुर जिले तक होती है। इसकी अधिक उत्पादकता के सभी क्षेत्र 15° उ० अक्षांश के दक्षिण में तमिल नाडु, कर्नाटक और महाराष्ट्र में हैं। इन क्षेत्रों में सामान्यतः गन्ना तथा चावल एक सी ही भूमि पर होते हैं। इसकी प्रति हेक्टेयर अधिक उपज आंध्र प्रदेश तथा उड़ीसा के तटीय भागों और असम तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में भी होती है। यह स्मरण रखने की बात है कि इसकी प्रति हेक्टेयर अधिक उपज उत्तर भारत के गंगा मैदान में नहीं होती यद्यपि यह भाग कुछ उपज में सर्वोपरी है।

गन्ने का प्रमुख क्षेत्र उत्तर प्रदेश है जहाँ भारत की समस्त उपज का लगभग आधा भाग उत्पन्न होता है। इसके क्षेत्रफल तथा उपज में दूसरा स्थान महाराष्ट्र का है। तीसरा स्थान बिहार का है तथा अन्य प्रमुख उत्पादक क्षेत्र पंजाब, हरियाणा, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा तमिल नाडु है। किन्तु गंगा-सतलुज के मैदानी भागों में उत्पादकता केवल 4000 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है। जो साधारण स्तर का है। जबकि कर्नाटक में यह 8000 किलोग्राम होती है। उपजाऊ भूमि में गन्ने की खेती बहुत अच्छी होती है। इसके लिए उच्च तापमान, अधिक वर्षा (100 सेन्टीमीटर से अधिक) अथवा इतनी ही मात्रा में सिंचाई, लम्बा पाला रहित वर्धन काल, तथा कटाई से पूर्व केवल छोटी शुष्क ऋतु चाहिए। चूंकि उत्तरी भारतीय मैदानों में, ग्रीष्म काल बहुत अधिक गर्मी का होता है, तथा सर्दियों में पाला पड़ता है, इसलिए ये भाग जलवायु की दृष्टि से दक्षिणी भागों की तुलना में कम उपयुक्त हैं। उत्तरी राज्यों में गन्ने की खेती का इतना अधिक विस्तार मुख्यतया वहाँ पर, इसे बेचने की तथा सिंचाई की सुविधाओं के कारण हुआ है। दक्षिणी बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और मध्यवर्ती उत्तर प्रदेश के भागों में छोटे-छोटे स्थानीय क्षेत्रों में कम उत्पादकता देखने को मिलती है।
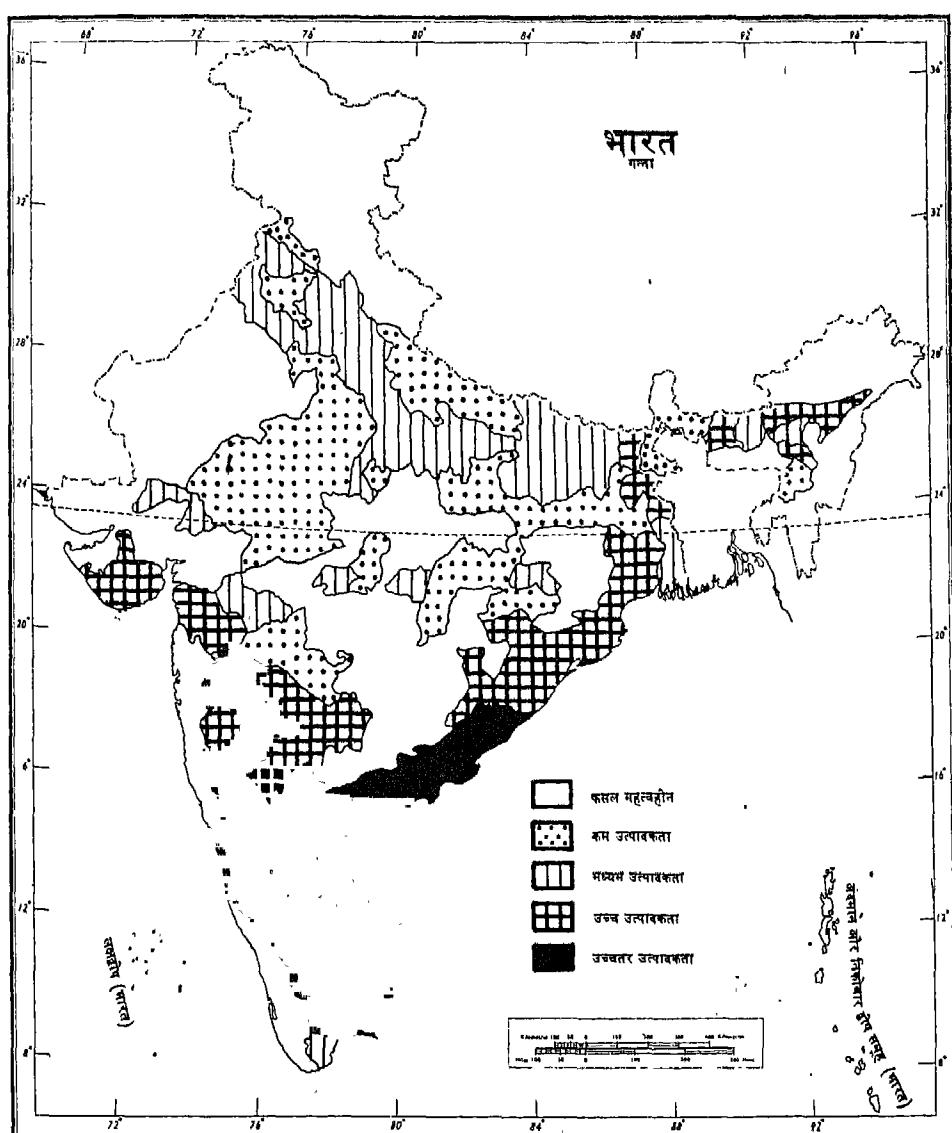
गन्ने की कृषि के अन्तर्गत सन् 1972 में लगभग 25 लाख हेक्टेयर क्षेत्र था जिससे लगभग 11 करोड़, 50 लाख टन चीनी प्राप्त हुई।

तिलहन

भारत में उगाई जाने वाली प्रमुख तिलहन मूँगफली, तिल, तोड़िया, सरसों, अलसी तथा अंडी हैं। इनके अतिरिक्त खाद्य तेल का मुख्य स्रोत गरी है, जो नारियल से प्राप्त की जाती है।

तिलहन की कृषि मोटे अनाजों के क्षेत्रों में कपास के साथ अथवा कपास के स्थान पर होती है। तिलहन के अन्तर्गत कुल कृषि क्षेत्रफल 1 करोड़, 60 लाख हेक्टेयर (नारियल के 10 लाख हेक्टेयर के अतिरिक्त हैं) जिसका एक तिहाई भाग आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तथा तमिलनाडु में है, और एक तिहाई से अधिक महाराष्ट्र तथा गुजरात में है। तिलहन का उत्पादन सन् 1970 के बाद 80 से 90 लाख टन के बीच में रहा है (गरी का उत्पादन सन् 1971-72 में 6,09,000 टन था) ।

चित्र-22 गन्ना ऊष्णकटिबंधीय फसल है। इसीलिए इसकी उच्चतम उत्पादकता दक्षिण भारत में पाई जाती है जबकि देश के उत्तरी मैदान में अधिक मात्रा में गन्ना उगाया जाता है। भारत के उत्तरी मैदान में किन कारणों से उत्पादकता मध्यम से निम्न है ?

कपास

कपास भारत का सबसे महत्वपूर्ण तन्तु (रेशे) वाला पौधा है। दक्षिण पठार में महाराष्ट्र, समीपवर्ती मध्य प्रदेश के भागों तथा गुजरात में काली मिट्टी के सूखे प्रदेशों में इसकी कृषि अच्छी होती है। उत्तम प्रकार के तन्तु उत्पादन के अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र पंजाब, हरियाणा तथा उनके साथ लगे हुए, उत्तरी पश्चिमी भाग, और दक्षिण में तमिल नाडु, आंध्र प्रदेश, तथा कर्नाटक राज्यों में हैं। कम तथा मध्यम उत्पादकता के क्षेत्र, पंजाब के मैदानों, काली लावा मिट्टी के प्रदेश तथा दक्षिणी दक्कन के भागों में, अधिक उपज के केन्द्रीय स्थलों के चारों ओर, वृत्ताकार फैले हुए हैं। (चित्र 23)।

गेहूं तथा मोटे अनाज के क्षेत्रों में यह एक प्रमुख उपज है तथा इसे गेहूं, ज्वार, और बाजरे के साथ अदल बदल कर बोया जाता है। कपास की उत्तम उपज के लिए तापमान 21° सेल्सियस से अधिक तथा इसका वर्धन काल पाले से रहित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त समान रूप से वितरित आर्द्रता आवश्यक है जो हल्की वर्षा के रूप में 60 से 85 सेन्टीमीटर तक हो अथवा उसके स्थान पर सिंचाई की सुविधा होनी चाहिए। इसके पौधे को गहरी उपजाऊ मिट्टी जिसमें पानी न ठहरे, की जरूरत है। इसे चुनने के समय मौसम साफ, बादल तथा वर्षा से रहित होना चाहिए। सन् 1950 से 1974 के बीच कपास का कृषि क्षेत्र 78 लाख हेक्टेयर तथा इसका उत्पादन 29 लाख से 63 लाख गाँठ हो गया है। (प्रत्येक गाँठ 180 किलोग्राम की)। विश्व के समस्त कपास क्षेत्रफल का 25 प्रतिशत भारत में होते हुए भी यहाँ इसकी उपज केवल 158 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है (यह उपज में 1950 से डेढ़गुणी वृद्धि है)। यह उपज सन् 1974 के अनुसार रूस में 938 कि०, मिश्र में 762 कि०, संयुक्त राज्य अमेरिका में 497 कि० तथा चीन में 446 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की तुलना में अभी बहुत ही कम है।

जूट (पटसन)

जूट अभी भी देश के लिए काफी मात्रा में विदेशी मुद्रा कमाता है। इसकी कृषि मुख्यतया पूर्वी क्षेत्रों तक सीमित है। क्योंकि इन क्षेत्रों में इसके लिए भारी वर्षा, उच्च तापमान और अच्छी प्रकार से पानी के बहाव वाली सेम मिट्टी जिसका प्रतिवर्ष नदियों की बाढ़ के कारण नवीनीकरण हो जाता है, सभी उपलब्ध हैं। इसलिये हमारे जूट की कृषि के कुल 8,19,000 हेक्टेयर क्षेत्रफल का आधा भाग पश्चिमी बंगाल में है। इसके अतिरिक्त शेष क्षेत्रफल असम, बिहार, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश में है।

देश में कुल उत्पादन 1974 में 15 लाख गांठों तक पहुंच गया (प्रत्येक गांठ 180 किलोग्राम की), तथा प्रति हेक्टेयर उपज 1214 किलोग्राम थी।
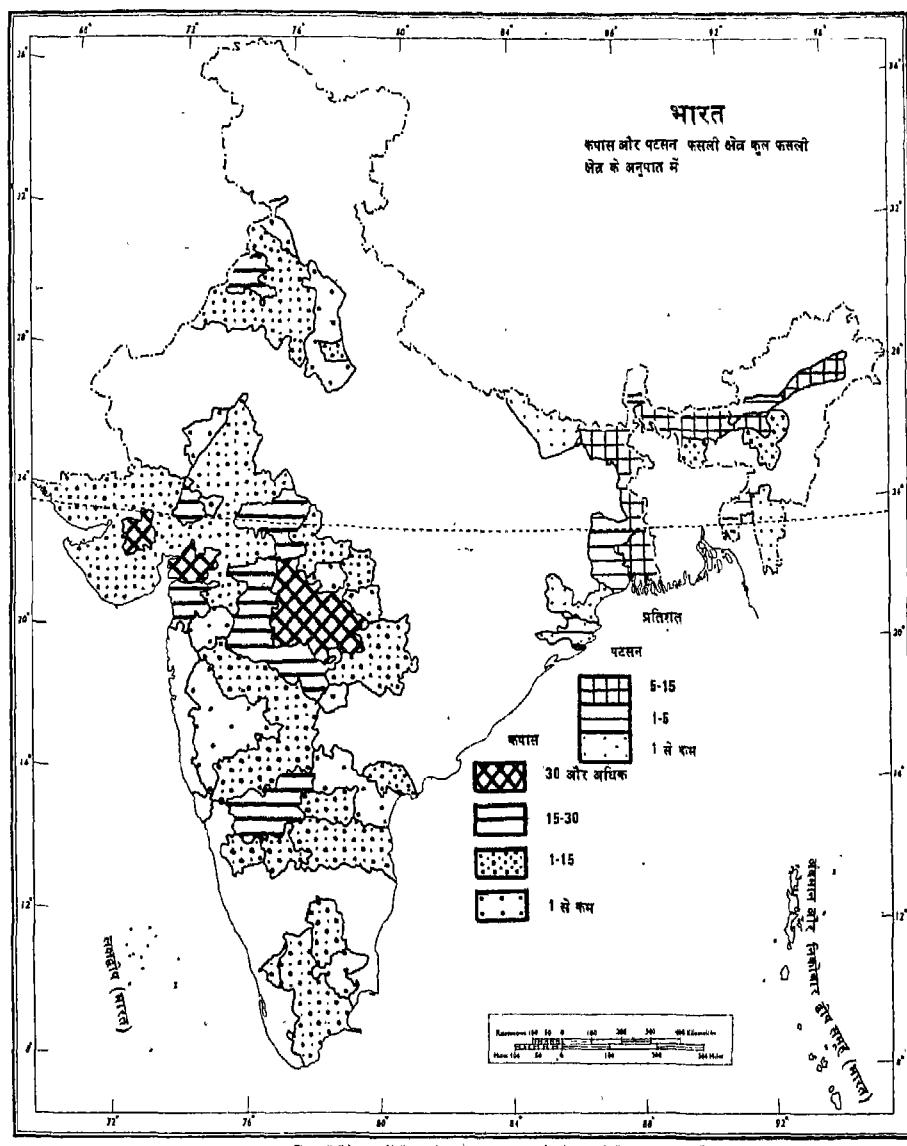
चाय तथा कहवा

चाय के उत्पादन में भारत विश्व में अग्रणीय देश है। यह रोपण फसल मुख्यतया गर्म-आर्द्र क्षेत्रों में ही लगाई जाती हैं। यहाँ इसके लिए समान रूप से वितरित 150 सेन्टीमीटर से अधिक वर्षा, पानी के अच्छे बहाव में सहायक पहाड़ी ढाल दोनों उपलब्ध हैं। इसलिए इसके बगीचे अधिकतर असम, पश्चिमी बंगाल के उत्तरी भाग हिमाचल प्रदेश तथा दक्षिण में नीलगिरी की पहाड़ियों, में हैं। देश में सन् 1973-74 में चाय के बगीचों का कुल क्षेत्रफल 3,57,000 हेक्टेयर तथा उपज 4,72,000 टन थी।

कहवा के उत्पादन के लिये उपजाऊ मिट्टी जिसमें पानी न ठहरता हो, गर्म जलवायु तथा सामान्य वर्षा सहायक तत्व हैं। भारत में इसका उत्पादन मुख्यतया कर्नाटक, केरल तथा तमिल नाडु में होता है। यद्यपि चाय भारत की सर्वप्रमुख विदेशी मुद्रा कमाने वाली उपज है, हमारे देश के कहवा उत्पादन का आधा भाग (86000 टन, सन् 1974 में) भी प्रतिवर्ष निर्यात किया जाता है।
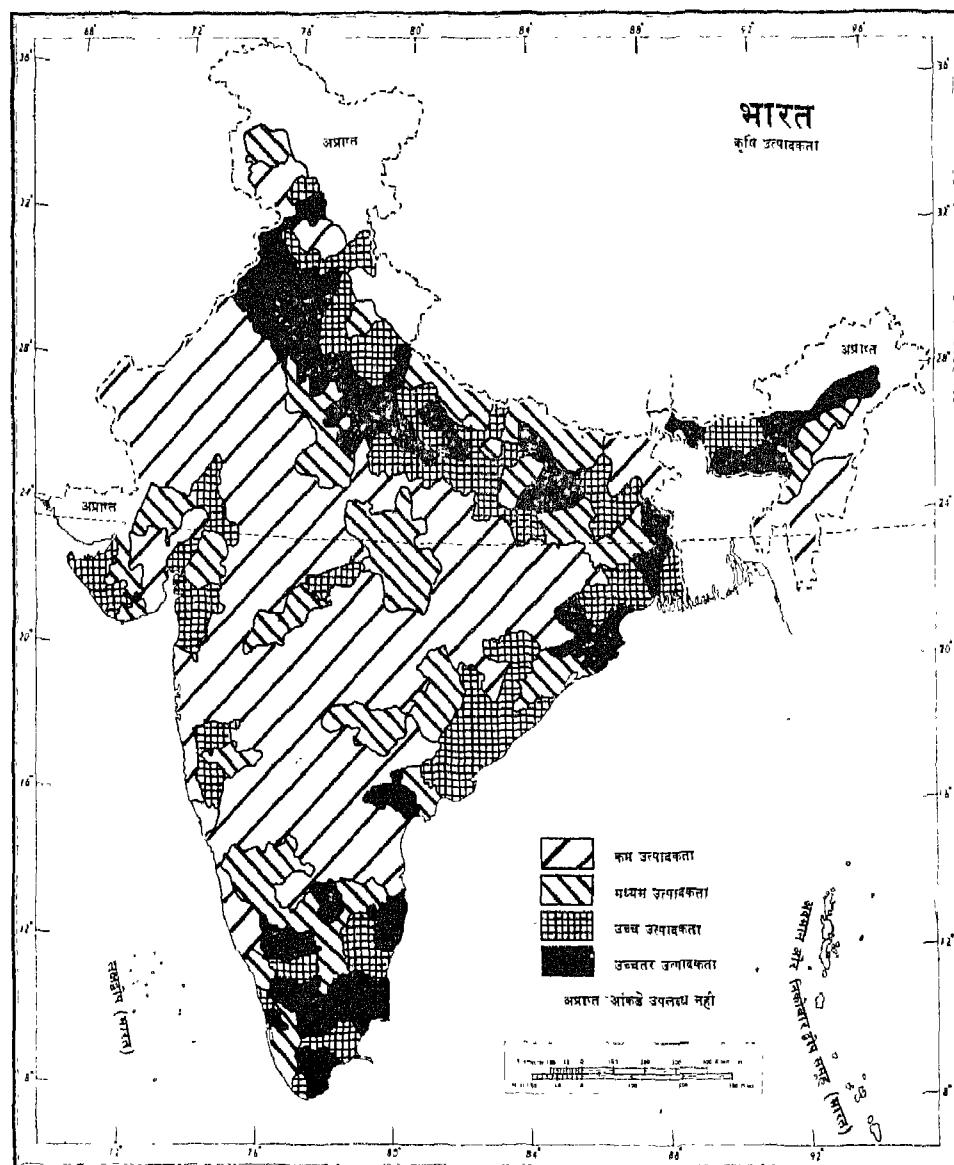
रबड़

यह एक प्रमुख औद्योगिक कच्चा माल है, जो कि लगभग सम्पूर्ण रूप से केरल की ही उपज है।

मानचित्र-23

चित्र-23 कपास की फसल के अक्षांशीय विस्तार और उन क्षेत्रों को अंकित करो जहां इसकी उत्पादकता उच्चतम है। पटसन के विपरीत इसकी खेती पश्चिमी भारत में क्यों होती है ?

मानचित्र-24

चित्र-24 भारत के अधिकतर भागों की निम्न कृषि उत्पादकता पर ध्यान दो। उच्च और मध्यम उत्पादकता के क्षेत्र कहाँ हैं ? उनके वितरण की विवेचना करो।

सन् 1971-72 में रबड़ के उत्पादन का समस्त क्षेत्रफल 2,03,000 हेक्टेयर (सन् 1950-51 के रबड़ क्षेत्र की तुलना में तीन गुनी वृद्धि से अधिक), तथा उत्पादन 1,25,000 टन था।

अन्य कृषि उत्पादों में, विश्व के दूसरे देशों की तुलना में यद्यपि भारत का कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, किन्तु यहाँ पर इनकी विविधता ध्यान देने योग्य है। भारत में आलू (बीमारी रहित आलू हिमालय के ऊपरी भागों में होता है), बहुत से उष्ण कटिबंधीय तथा शीतोष्ण प्रदेशीय फल (आम तथा सेब वायुयानों द्वारा निर्यात होते हैं) सभी भागों में उगाये जाते हैं। भारत में विभिन्न प्रकार के मसाले भी होते हैं। केरल की मलाबार तटीय पेटी तथा कर्नाटक राज्य, काली मिर्च, मिर्च, अदरक, लौंग तथा इलाइची के उत्पादन के लिये प्रसिद्ध हैं।

भारत के मानचित्र (चित्र 24) में कृषि उत्पादकता के वितरण के स्वरूपों का सामान्य प्रदर्शन किया गया है। इस पर एक दृष्टि, इस वितरण के समापन पर उपयोगी सिद्ध होगी। तीन दक्षिणी राज्यों के अतिरिक्त, प्रति हेक्टेयर अधिक उपज के अन्य क्षेत्र पृथक रूप में भारत के विभिन्न भागों में बिखरे हैं। भारत के विशाल उत्तरी मैदानों तथा कुछ दक्षिणी और तटीय उपजाऊ जलोढक मिट्टी वाले जिलों के अतिरिक्त केवल कुछ ही अधिक उत्पादकता के स्थानीय क्षेत्र है। यह केवल गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में दिखाई पड़ते हैं।

मध्यम उपज के क्षेत्र पश्चिम में सहारनपुर, (उ० प्र०) से लेकर पूर्व में दरभंगा (बिहार) तक, शिवालिक पहाड़ियों के दक्षिण में स्थित हैं। दक्षिण बिहार, तथा पश्चिमी बंगाल के कुछ जिले भी इस श्रेणी में आते हैं। अन्य इसी प्रकार के छोटे-छोटे क्षेत्र, केरल, तमिल नाडु, मध्य प्रदेश और उड़ीसा की मुख्य क्षेत्रीय पट्टी से पृथक हैं।

कम उपज के क्षेत्र अधिकतम प्रायद्वीपीय भारत के मध्यवर्ती भागों, छोटानागपुर प्रदेश, पश्चिमी राजस्थान, जम्मू तथा लद्दाख और गुजरात के कुछ जिलों में हैं।

स्वाध्याय

पुनरावृत्ति प्रश्न

1. भारतीय कृषि की वर्तमान स्थिति से संबंधित चार प्रमुख बाधाओं का निरुपण कीजिए, तथा इनके समाधान के लिये किये गये उपायों का वर्णन कीजिए।

2. भारत के उन क्षेत्रों को ढूंढिये जहां बहुत ही कम वर्षा होती है तथा जहां बहुत ही कम, अथवा बिल्कुल सिंचाई नहीं होती। अन्य क्षेत्र ढूंढिये जहाँ बहुत कम होती है, किन्तु सिंचाई अच्छी प्रकार विकसित है।

   उन कृषीय तकनीकी विधियों का उल्लेख करो जिनसे कृषीय भूमि उत्पादकता की वृद्धि में सहायता मिल सकी है।

3. (i) भारत के कुछ भागों में 'हरित क्रान्ति' किस प्रकार से 'खाद्यान्न क्रान्ति' ला सकी है ?

(ii) 'हरित क्रान्ति' की योजना भारत में सर्वत्र लागू क्यों नहीं की जा सकी है ?

4. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षेप में उत्तर दो :—

(i) उन तीन चीज़ों के नाम बताइये जो कृषीय संपदा में गिनी जाती है ।

(ii) भारत की पांच प्रमुख खाद्यान्न फसलों तथा दो नकदी फसलों को उनके उत्पादन अथवा निर्यात-योग्य अतिरिक्त मात्रा के अनुसार क्रमबद्ध कीजिए ।

(iii) फसलों की गहनता से आप क्या समझते हैं ?

(iv) 'शुष्क कृषि' का क्या अर्थ है ?

(v) 'भूमि सम्पत्ति की अधिकतम सीमा' से क्या तात्पर्य है ?

(vi) स्थानान्तरी कृषि प्रणाली अब क्यों लाभप्रद नहीं रहीं ?

5. निम्नलिखित में से प्रत्येक के लिये एक एक-एक परिभाषिक शब्द दो :—

(i) विभिन्न प्रकार की फसलों का एक ही भूमि क्षेत्र पर, एक दूसरे के बाद मुख्यतया वहां की मिट्टी के उपजाऊपन को पुनःप्राप्ति के लिये उगाना ।

(ii) हमारे देश में कृषि क्षेत्र में नये विकास कार्य, जिनसे मुख्यतया नई विकसित विधियों द्वारा बहुत सीमा तक कुछ खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि हुई है ।

6. 'अभी तक वर्षा की मात्रा ही कृषि सम्पदा के वितरण तथा विकास में एक निर्णायक तथ्य हैं' व्याख्या कीजिए ।

स्वयं करिए तथा ढूंढ़िए

7. (i) पंजाब और हरियाणा, (ii) कर्नाटक और केरल, में कृषि के विषय में निम्नलिखित चीजें ज्ञात कीजिए और इनकी सहायता से अपने निष्कर्ष निकाल कर लिखिए ।

(i) सम्पूर्ण क्षेत्रफल,

(ii) वास्तविक बोया जाने वाला क्षेत्रफल

(iii) कुल फसली क्षेत्र

(iv) सन् 1950-51 और 1973-74 में सिंचित क्षेत्र

(v) गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा का सन् 1950-51 तथा 1973-74 में उत्पादन

(vi) इन अनाजों की उत्पादकता ।

उपर्युक्त सांख्यायिक को उचित प्रकार के आरेखों द्वारा प्रदर्शित करिए ।

अध्याय-5

निर्माण उद्योग

बहुत से प्राथमिक उत्पादों को बिना अनेक प्रकार की वस्तुओं में रूपान्तरित किये, परोक्ष ढंग से प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। इसीलिए हम कपास से कपड़ा बनाते हैं, लकड़ी की लुगदी से कागज, तथा खनिज तेल से कई तरह के पेट्रो रासायन तैयार करते है। कोई देश जितना अधिक प्राथमिक उत्पादों को, गौण निर्मित उत्पादों में परिवर्तित करने में समर्थ है, वह उतना ही अधिक धन उपार्जन करता है तथा उतने ही अधिक धनाढ्य बनने के अवसर उसे प्राप्त होते हैं। इस रूपान्तरण से प्राप्त धन देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि करता है।

भारत की जनसंख्या की अधिकता तथा वृद्धि के अनुपात में अपने निर्माण उद्योगों को इतनी तीव्रता से विकसित करना अथवा इनसे इतनी ही अधिक राष्ट्रीय आय-प्राप्त करना एक बहुत कठिन कार्य है। इस कार्य के लिए सबसे अधिक आवश्यकता पर्याप्त पूंजी निवेश की है।

भारत में औद्योगिक विकास उतना ही पुराना है जितना पुराना यहाँ के मानव का इतिहास है। आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति के युग से पूर्व, भारत की हाथ से बनी वस्तुएँ, जो कि देश के सभी भागों में गाँवों-गाँवों की झोपड़ियों में बनती थी, विदेशों में मान पाती थी और विदेशों में इनकी बिक्री से देश में धन आता था। हमारे देश का सूती कपड़ा, कांस्य वस्तुएं और धातु के वर्तन समस्त विश्व में प्रसिद्ध थे।

यूरोप से आरम्भ हुई औद्योगिक क्रांति ने आधुनिक प्रकार के कल-कारखानों का आरम्भ किया जो यन्त्रों की सहायता से बहुत अधिक मात्रा में निर्मित उत्पादों का निर्माण करते हैं। इससे श्रमिकों का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों की ओर स्थानांतरण हुआ है। वस्तु विनिमय के पुराने व्यापार के ढंग के स्थान पर वर्तमान अर्थव्यवस्था शुरू हुई। इस परिवर्तन ने कुछ समय के लिए औद्योगिक रोजगार को बढ़ाया है।' यद्यपि इसके साथ ही इसने हमारे ग्रामीण परम्परागत हस्त शिल्प उद्योगों को समाप्त भी कर डाला।

उद्योग के आकार तथा इसकी कार्यक्षमता के आधार पर हमारे यहाँ बड़े पैमाने के तथा मध्यम स्तर के उद्योग हैं। इन में जूट, सूती कपड़ा तथा विभिन्न प्रकार की मशीनों से सम्बन्धित यान्त्रिक उद्योग हैं जो पहली अथवा दूसरी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। छोटे पैमाने के ग्रामीण लघु तथा घरेलू उद्योग गांवों कस्बों तथा व्यक्तिगत परिवारों तक ही सीमित हैं और कृषि के समान ही भारत में सर्वत्र फैले हैं। अभी भी हथकरघा तथा अन्य लघु उद्योगों में लगे श्रमिकों की संख्या बड़े पैमाने के कारखानों, खनन, तथा रोपण फसलों में सम्मिलित

रूप से लगे श्रमिकों की संख्या से कहीं अधिक है। स्पष्ट रूप से हमारी ग्राम्य अर्थव्यवस्था की विशेषता यहाँ के ग्रामीण उद्योग हैं। परिवार के सदस्यों अथवा मजदूरों स्थानीय कच्चे माल को सरल विधियों द्वारा संसाधन करने में लगाया जाता है। इस प्रकार की औद्योगिक क्रियाएँ कृषि में भी सहायक होती हैं। ये उद्योग अच्छी प्रकार के कच्चे माल, तकनीकी कुशलता के विकास, तथा संगठित प्रकार की बाजार व्यवस्था के अभाव से हानि उठा रहे हैं। इसीलिए ग्रामीण उद्योगों के उत्पादों से मुख्यत: ग्रामीण क्षेत्रों की ही आवश्यकता पूर्ति होती है, विशेषकर देश के दुर्गम भागों में। छोटे पैमाने के निर्माण संस्थानों का आधुनिकतम् प्रकार से विकास तथा विस्तार करने के लिए औद्योगिक क्षेत्र स्थापित करने के विचार को कुछ क्रियात्मक रूप दिया गया है।

सन् 1951 के शुरू से 'भारतीय अर्थव्यवस्था' के योजनाबद्ध विकास के परिणामस्वरूप संरचना तथा स्वामित्व की दृष्टि से उद्योगों को (1) सार्वजनिक उद्योग (2) निजी उद्योग तथा (3) संयुक्त अथवा सहकारी उद्योग क्षेत्रों में बांटा गया है। भारी तथा आधारभूत उद्योग मुख्यत: सार्वजनिक क्षेत्र में आते हैं जिनकी व्यवस्था सरकार स्वयं करती है। उपभोज्य वस्तुएँ तथा छोटे यन्त्र उद्योग साधारणत: निजी व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु इनके मध्य कोई बहुत दृढ़ स्थाई विभाजन रेखा नहीं है। उदाहरणत: लोहा तथा इस्पात अथवा उर्वरक जैसे उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में आते हैं। इन में खाद्य, कपड़ा, विद्युत शक्ति, धातु, औषधियाँ, रासायन तथा हथकरघा के प्रधान वर्ग हैं। एक अन्य वर्गीकरण द्वारा भारी आधारभूत तथा हल्के उपभोज्य वस्तु उद्योगों को कभी-कभी खनिज आधारित तथा कृषि आधारित उद्योगों की संज्ञा भी दी जाती है।

भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त पुराने मुख्यत: उपभोज्य वस्तुओं के निर्माण करने वाले उद्योगों की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के साथ-साथ औद्योगिक विकास की नींव रखने के लिए भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया है। नये योजना काल में, हमारे बड़े पैमाने के उद्योगों का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ा है किन्तु विकास की प्रक्रिया अभी पूर्णता से बहुत दूर है। हमें इनके लिये पूँजी, कच्चे माल तथा कुशल तकनिकों की कमी रहती है।

निर्माण उद्योगों की गति को बढ़ा कर सन् 1956 से ही भारत की औद्योगिक नीति का लक्ष्य अर्थव्यवस्था में विविधता लाना तथा पिछड़े क्षेत्रों में नये कारखाने लगा कर संतुलित प्रादेशिक विकास करना रहा है।

एक सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के लिये, हमारे योजनाबद्ध प्रयासों से भी, दीर्घ-कालीन औद्योगिक विकास का प्रादेशिक असंतुलन बहुत ही थोड़ी मात्रा में कम हो पाया है। भारत के आधुनिक कारखानों का लगभग 24 प्रतिशत महाराष्ट्र-गुजरात, 14 प्रतिशत बिहार, 8 से 9 प्रतिशत तक पश्चिमी बंगाल और आँध्र प्रदेश हर एक में 12 प्रतिशत तामिलनाडु तथा शेष केवल 32 प्रतिशत अन्य 15 राज्यों और 8 संघीय क्षेत्रों में है। कारखानों में दैनिक काम करने वालों की संख्या को देखने से यह दिशा और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस समय भारत में महाराष्ट्र-गुजरात में कुल श्रमिकों का 30 प्रतिशत, पश्चिमी बंगाल में 20 प्रतिशत, आंध्र प्रदेश तथा तामिलनाडु में क्रमश: 5 और 8 प्रतिशत और लगभग एक तिहाई अन्य सारे राज्यों में है। उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश जैसे प्राकृतिक संपदा सम्पन्न राज्य इस विषय में बिल्कुल न्यूनतम स्थान पर हैं जबकि दिल्ली जैसा लघु राज्य दोनों विषयों में इन राज्यों से उच्च स्थान पर है। महाराष्ट्र तथा गुजरात के कारखानों में प्रति दिन जितने लोग काम करते हैं, उड़ीसा, राजस्थान, आसाम, मध्य प्रदेश, पंजाब, कर्नाटक और केरल राज्यों में सम्मिलित रूप से इतने ही लोगों को यह रोजगार उपलब्ध है। उड़ीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश और उत्तर-पूर्वी भारत जैसे संभाव्य संपदा में भरपूर प्रदेशों को अन्य विकसित भागों के समकक्ष लाने

तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों के औद्योगिक विकास की मांगों का मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा औद्योगीकरण की प्रक्रिया के सूत्रपात ने देश की अर्थव्यवस्था को बहुमुखी करने के प्रयास किये हैं। किन्तु साधारणतया हम खनिजों, उपभोक्ता वस्तुओं के बनाने के लिए यंत्रों तथा कागज और अखबारी कागज उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाये। बहुत से उपभोज्य सामान, बाईसिकलों, स्कूटरों, मोटर साइकिलों, कारों, यात्रियों तथा सामान के लिये वाहनों और रेल के इंजनों के अतिरिक्त, लक्षित उत्पादन की उपलब्धियाँ अधिक नहीं हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी राज्यों में कारखानों की संख्या में वृद्धि हुई है, किन्तु दैनिक रोजगार की वृद्धि तथा श्रमिकों की साधारण स्थिति में सुधार की अभी बहुत अधिक आवश्यकता है।

विद्युत शक्ति के उत्पादन में सन् 1955-56 से सन् 1972-73 के मध्य लगभग छः गुणी से अधिक वृद्धि का अनुमान है। परन्तु उद्योगों के विस्तार के लिए एक मूल तत्व के रूप में विद्युत शक्ति की भारी खपत के कारण, प्रायद्वीपीय भारत को छोड़ कर प्रायः सभी राज्यों में इसकी अधिकाधिक कमी का अनुभव हो रहा है।

उपर्युक्त तालिका से सन् 1960-61 के उपरान्त विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं की तुलनात्मक वृद्धि की धीमी गति स्पष्ट हो जाती है।

कृषि आधारित तथा हल्के उद्योग

हमारी आर्थिक व्यवस्था में कृषि उत्पादों पर आधारित उपभोक्ता उद्योग की महत्ता उत्पादन तथा रोजगार के अवसरों की दृष्टि से सर्वमान्य है। इस वर्ग में वस्त्र, चीनी, वनस्पति घी, तथा चमड़ा उद्योग प्रमुख हैं।

वस्त्र उद्योग

इसमें कपास, पटसन, ऊन रेशम तथा कृत्रिम रेशे द्वारा निर्मित वस्त्र आते हैं।
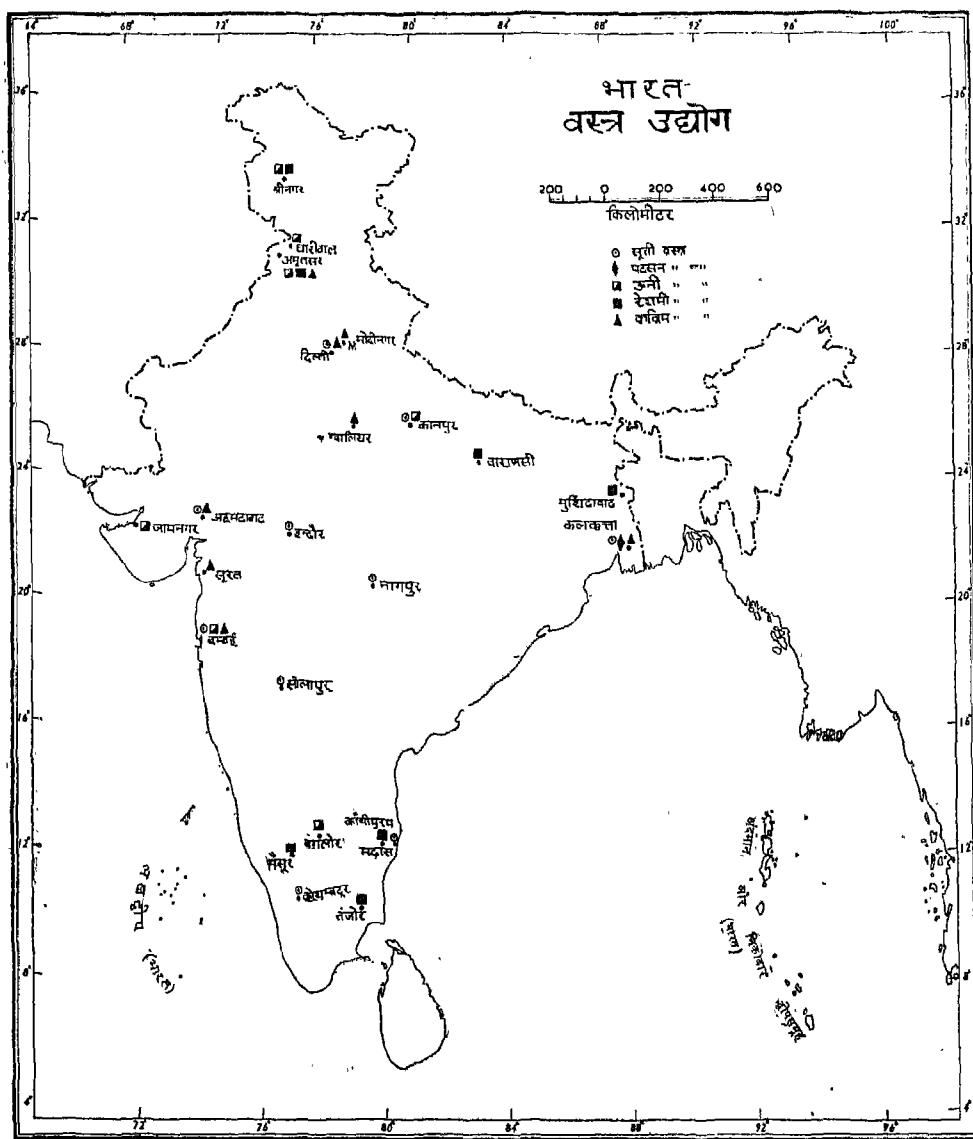
सूती कपड़ा निर्माण'

परम्परागत हथकरघा तथा आधुनिक सूती कपड़ा उद्योग, भारत का अकेला सबसे बड़ा उद्योग है। भारत की सबसे पहली कपड़ा मिल कलकत्ते के पास सन् 1818 ई० में स्थापित हुई थी। किन्तु इस उद्योग का वास्तविक आरम्भ भारतीय पूँजी से बम्बई में पहली सूती कपड़ा मिल की स्थापना से हुआ। सन् 1974 के अन्त में देश में 691 कपड़े-की मिलें थी। इनमें से लगभग 403 केवल कताई की तथा शेष कताई व बुनाई की संयुक्त मिलें थी। इस उद्योग ने सन् 1947 में 590,000 टन धागा और 3 अरब, 50 करोड़ मीटर कपड़ा उत्पन्न किया। सन् 1974 तक धागे का उत्पादन बढ़कर 10 लाख टन तथा कपड़े का उत्पादन 4 अरब 31 करोड़ मीटर तक पहुँच गया। विकेन्द्रित क्षेत्र में तथा हथकरघों पर बनाया कपड़ा इससे अतिरिक्त है। इस उद्योग में लगभग 10 लाख श्रमिक, मिलों में कार्यरत हैं।

कपास की मिलें सम्पूर्ण भारत में 80 से अधिक छोटे तथा बड़े शहरों में बिखरी हुई हैं, किन्तु मिलों का ज्यादा-केन्द्रीकरण महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिमी बंगाल, तामिलनाडु और उत्तर प्रदेश में है (चित्र-25)।

बम्बई में सूती कपड़ा मिलों की स्थिति के लिए जलपोताश्रय, तटीय क्षेत्र की आर्द्र जलवायु, व्यापार तथा बैंक की सुविधाएँ बहुत पूर्व काल से प्राप्त रही हैं। अहमदाबाद भारत भर में सूती कपड़े का दूसरा बड़ा उत्पादन केन्द्र है। यहाँ की मिलें छोटे आकार की हैं किन्तु ये उत्तम प्रकार के कपड़े के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध हैं।

घरेलू मांग अधिक बढ़ जाने से, यह उद्योग देश के आंतरिक भागों में भी कपास उगाने वाले क्षेत्रों के मध्य में नागपुर और शोलापुर के प्रदेशों में भी फैल गये। जल विद्युत शक्ति के विकास ने इस उद्योग को पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा तामिलनाडु के आन्तरिक भागों तक पहुँचा दिया है। कानपुर सूती कपड़ा उद्योग के केन्द्र के नाते बहुत उपयुक्त रूप से ऊपरी गंगा-सतलुज के कपास

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

चित्र-25 भारत में वस्त्र उद्योग के केन्द्रों का वितरण देखो। इनमें से किस उद्योग का विस्तार अत्यधिक है ? कौन से वस्त्र उद्योग अधिकतर उत्तरी भारत और एक महानगर तक ही सीमित है ? ऐसा क्यों है ?

तालिका-9

कुल घरेलू उत्पादकों की वृद्धि की औसत वार्षिक दर

(सन् 1960-61 के स्थिर मूल्यों के आधार पर प्रतिशत में)

आर्थिक क्रिया के प्रकार	वार्षिक विकास दर	
	1950-51 से 1960-61	1960-61 से 1973-74
1—कृषि, वन तथा मतस्य उद्योग	2.72	1.90
2—खनन तथा मिट्टी पत्थरों की खुदाई	4.37	4.32
3—निर्माण उद्योग	6.30	4.54
4—विद्युत, गैस तथा जल आपूर्ति	11.22	10.31
5—निर्माण	5.43	5.02
6—परिवहन, गोदाम, तथा संचार	5.80	4.68

उत्पादन मैदान तथा दामोदर घाटी योजना के कोयला क्षेत्र के मध्य स्थित है।

देश में अब ऐसे प्रत्येक प्रदेश ने विशेष प्रकार का सूती कपड़ा तैयार करने में अपने-अपने ढंग की विशिष्टता प्राप्त कर ली है। भविष्य में आसाम, उड़ीसा और राजस्थान को नई आधुनिक सूती कपड़े की मिलों की स्थापना के लिए प्राथमिकता मिलेगी। इसका कारण यह है कि इन क्षेत्रों में वस्त्र उद्योग की आवश्यकता बढ़ती जा रही है तथा अभी तक इन राज्यों की उपेक्षा की जाती रही है।

पटसन वस्त्र उद्योग

इस उद्योग का जन्म कलकत्ता में सन् 1850 ई० में हुआ। यह उद्योग भारत में बहुत बड़ा विदेशी मुद्रा कमाने वाला उद्योग बन गया है। सन् 1947 से पहले पटसन का उत्पादन 65 से 70 लाख गाँठें थीं किन्तु सन् 1947-48 में यह देश के विभाजन के कारण केवल 16 लाख गाँठें रह गया। सन् 1950-51 में विभिन्न प्रकार के पटसन वस्त्र का उत्पादन 837,000 टन था, जबकि सन् 1972-73 में यह 11 लाख 20 हजार टन तक बढ़ गया। मिलों की संख्या इस काल में लगभग स्थिर सी ही रही है—परिवर्तन केवल 106 से 110 तक हुआ है। इनमें से 101 मिलें कलकत्ता केन्द्र से 64 किलोमीटर की अर्धव्यास दूरी तक हुगली नदी के निचले बेसिन के साथ-साथ स्थित हैं। इनमें 3,00,000 श्रमिक काम करते हैं। भारत विश्व के पटसन के बने सामान की आधी उत्पादन क्षमता रखता है। इसके बाद बंगला देश दूसरा बड़ा जूट वस्त्र उत्पादक देश है।

इस क्षेत्र में, इस उद्योग के प्रारम्भ का प्रमुख कारण कलकत्ता में अंग्रेज व्यापारियों का पूर्व कालीन आवास था। गंगा के निचले बेसिन तथा ब्रह्मपुत्र घाटी के पटसन उत्पादक क्षेत्र से निकटता मिलों को आन्तरिक भागों से मिलाने वाले सुगम जल मार्ग, पटसन को सड़ाने के लिये पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध पानी, कलकत्ता जलपोताश्रय की सुविधा, आर्द्र जलवायु, समीप के पूर्वी राज्यों से श्रमिकों की लगातार उपलब्धि, रानीगंज के कोयला क्षेत्रों से केवल 192 किलोमीटर की दूरी, कुछ ऐसे तत्व हैं जो हुगली क्षेत्र में पटसन उद्योग के विकास

में सहायक हुए ।

हमारा जूट से बना सामान आयात करने वाले अनेक पश्चिमी देशों ने द्वितीय महायुद्ध के दिनों से अपने यहाँ कृत्रिम जूट से ये वस्तुएँ बनानी शुरू कर दी हैं । इस कारण इस उद्योग को नये बाजार तथा पटसन उत्पादों के नये उपयोग ढूंढ़ने की समस्या का सामना करना पड़ रहा है । नये पटसन उत्पादक क्षेत्रों तथा अन्य भागों, उदाहरणतया बंगला देश में स्थापित आधुनिकतम प्रकार के यन्त्रों से चलित नई मिलों से बढ़ती हुई स्पर्धा के कारण हमें पटसन के तन्तु की किस्म में भी सुधार करने की बहुत अधिक आवश्यकता है । अतः भारतीय पटसन उत्पादों को अन्य के मुकाबले में कम मूल्य पर अपनी अधिक उपयोगिता बनाये रखनी है जिससे बहुत पहले से स्थापित हमारे निर्यात बाजार बने रहें ।

ऊनी वस्त्र उद्योग

देश में सन् 1971 में 50 से अधिक ऊँची वस्त्र की मिलें थीं जिनमें लगभग 21,000 टन धागा और दो करोड़ सत्ताईस लाख मीटर ऊनी वस्त्र तैयार हुआ । इन मिलों में से लगभग आधी मिलें पंजाब में मुख्यतः गुरदासपुर-अमृतसर लुधियाना क्षेत्र में हैं । परन्तु इस उद्योग के विकास का प्रमुख कारण, समीप में, अधिक ठंडी शीत ऋतु वाले उत्तर-पश्चिमी भारत तथा हिमालय के पर्वतीय राज्यों के खपत क्षेत्रों की स्थिति है । इनके अतिरिक्त अन्य मुख्य केन्द्र कश्मीर में श्रीनगर, उत्तर प्रदेश में कानपुर, आगरा, मिर्जापुर, राजस्थान में जयपुर, मध्यप्रदेश में ग्वालियर, गुजरात में जामनगर तथा बम्बई और बंगलौर हैं । भारत ने ऊन की वस्तुओं का जिनमें दरियाँ, गलीचे, दुशालें, तथा स्वेटर व जर्सियाँ शामिल हैं, निर्यात इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा सोवियत रूस के साथ बहुत बढ़ाया है । हमारे ऊनी वस्त्र उद्योग की प्रमुख कमी, भारत की इन मिलों का छोटा आकार है ।

रेशमी वस्त्र उद्योग

प्राचीन काल में भारत रेशम के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध था किन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से इटली तथा जापान में रेशम का उत्पादन बढ़ा तथा अन्य औद्योगिक देशों में कृत्रिम रेशम तथा जूट का उद्भव हुआ । इन कृत्रिम तन्तुओं की प्रतिस्पर्धा के कारण भारत के रेशम उद्योग में तीव्रता से अवनती आरम्भ हो गई । फिर भी भारत संसार का पाँचवां बड़ा कच्चे रेशम का उत्पादक है । सन् 1973-74 में हम ने 10,74,000 टन रेशमी वस्त्रों का उत्पादन किया । अब इसे फिर से महत्वपूर्ण बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं । भारत में रेशम का लगभग आधा उत्पादन अकेले कर्नाटक में होता है तथा जम्मू-कश्मीर, हिमांचल प्रदेश और आसाम भी कच्चे रेशम के लिए प्रख्यात हैं ।

कृत्रिम वस्त्र उद्योग

भारत अब रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा मानव निर्मित कृत्रिम तंतुओं से रेयॉन, नॉइलोन, टैरीन और डैक्रोन का भी उत्पादन करता है । इस प्रकार के कृत्रिम धागे का उत्पादन सन् 1950 से सन् 1973 के काल में 50 गुणा तक बढ़ गया है । इस उद्योग के महत्वपूर्ण केन्द्र बम्बई, अहमदाबाद, सूरत, कलकत्ता, अमृतसर, ग्वालियर और दिल्ली हैं ।

हमारे सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का एक महत्वपूर्ण भाग देश के आर्थिक क्षेत्र में हथकरघों तथा शक्ति से चालित करघों से तैयार होता है । यह ऐसा उद्योग है जिसमें बहुत अधिक श्रमिकों की आवश्यकता रहती है । इसीलिए यह भारी संख्या में लोगों को अंशकालिक तथापूर्णकालिक रोजगार प्रदान करने में कृषि के पश्चात् दूसरे स्थान पर है । नारियल के तन्तु को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करके रस्सी बनाने का कुटीर उद्योग भी महत्वपूर्ण है, विशेषकर केरल राज्य में । इसके उत्पाद विदेशी मुद्रा कमाते हैं । इस धन्धे से लगभग पाँच लाख लोग जीवकोपार्जन करते हैं । इस उद्योग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती हैं ।

चीनी उद्योग

भारत विश्व में गन्ने का सबसे बड़ा उत्पादक देश

है। गन्ने से उत्पादित खाँडसारी चीनी तथा मिलों में बनी चीनी समेत विश्व के समस्त चीनी उत्पादन में भारत का सर्वोच्च स्थान है। यह उद्योग, गन्ने की नकदी फसल पर आधारित है। इसकी कृषि जिन कारकों पर निर्भर है, उनमें गन्ने का क्रय मूल्य एक मुख्य निर्णायक है। यह निर्धारित मूल्य हर साल किसानों से गन्ना खरीदने के लिए निश्चित कर दिया जाता है। अत: हर वर्ष गन्ने के क्रय मूल्य के उतार-चढ़ाव से इसका उत्पादन भी घटता-बढ़ता है। परिणामस्वरूप चीनी के वार्षिक उत्पादन में अस्थिरता रहती है। कपास के विपरीत गन्ना बहुत जल्द खराब होने वाला पदार्थ है। यदि यह दूर स्थित कारखानों के लिए धीमी गति से ले जाया जावे तो इसके रस के सूखने का भय रहता है। इस से चीनी कम निकलती है। इसलिए चीनी मिलें केवल समीपवर्ती गन्ने की पिराई करती हैं। और कुछ महीनों के लिए ही क्रियाशील रहती हैं। वर्ष की एक लम्बी अवधि में जब पिराई नहीं होती तब ये शिथिल हो जाती हैं। इस प्रकार की बाधाएँ हमारे चीनी उत्पादन को सीमित कर देती हैं। हमारे देश में उत्पादित चीनी का मूल्य ऐसे देशों के स्तर तक कम नहीं हो पाता जहाँ गन्ने की उत्पादिता अधिक है, पिराई का काल लम्बा रहता है तथा उत्पादन अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता है।

समस्त चीनी की मिलों की आधी संख्या (वर्ष 1974-75 में 245) अकेले उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित है। शेष मिलें ऊपरी गंगा-सतलुज के मैदान, मध्य गंगा के प्रदेश तथा दक्षिणी प्रायद्वीप के सिंचित क्षेत्रों में हैं। इस उद्योग में दक्षिण की ओर को स्थानान्तरण की प्रवृत्ति आ गई है। इसका कारण दक्षिण भारत में उत्पादित गन्ने में रस अर्थात चीनी तत्व की अधिक मात्रा, पिराई का काल अपेक्षाकृत लम्बा और अधिकतर चीनी बनाने वाली मिलों का सुव्यवस्थित सहकारी क्षेत्र में होना है। उत्तर प्रदेश में श्रमिकों तथा उत्पादन संबंधी बढ़ती हुई समस्याओं के कारण इस उद्योग के राष्ट्रीयकरण की मांग जोर पकड़ती जा रही है। चीनी का उत्पादन सन् 1950-51 में 11 लाख 30 हजार टन से सन् 1969-70 में 42 लाख 60 हजार टन तक बढ़ा तथा सन् 1974-75 में यह 47 लाख 30 हजार टन हो गया। आजकल चीनी के निर्यात से हम अधिक मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त कर रहे हैं। हम इससे भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं यदि आयात करने वाले विदेशों तथा देश के गरीब उपभोक्ताओं के लिए चीनी का उत्पादन मूल्य कम करने में सफल हो सकें।

वनस्पति-तेल उद्योग

भारत में बहुत काल से खाद्य-तेल को तिलहन से निकालने का कार्य चला आ रहा है। सारे देश में तेल की मिलें फैली हुई हैं। वर्तमान समय में वनस्पति घी अथवा वनस्पति उद्योग बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। यह हाइड्रोजन से शोधित किया हुआ मूंगफली, बिनौले तथा सूरजमुखी फूल के बीजों का तेल है। सन् 1950-51 की तुलना में सन् 1973-74 में वनस्पति तेलों का उत्पादन लगभग तीन गुणा बढ़ गया है। वनस्पति-तेल उद्योग सारे देश में विस्तृत रूप से फैला हुआ है और महाराष्ट्र तथा गुजरात इस दिशा में अग्रणी हैं।

कुछ अन्य विभिन्न प्रकार के उपभोक्ता उद्योग (1) चमड़ा, (2) रबड़, (3) कागज, (4) शीशा, (5) चाय तथा काफी उत्पादन के हैं।

चर्म उद्योग

चर्म शोधन-शालाओं में से अधिकतर उत्तरी भारत में विशेषत: उत्तर प्रदेश में हैं जहां कानपुर इनका प्रमुख केन्द्र है। कलकत्ता तथा मद्रास भी काफी मात्रा में शोधित क्रोम चमड़ें का उत्पादन करते हैं। चमड़े के निर्मित सामान का उत्पादन मुख्यतया हाथ से होता है और आगरा अभी भी इसका प्रमुख केन्द्र है जहां लगभग 150 छोटे कारखाने हैं। देश में 9 आधुनिक प्रकार के कारखाने आगरा, कानपुर (सबसे बड़े जूतें, तथा राजकीय साज व जीन साज़ी के चमड़े के कारखाने), कलकत्ता, बम्बई तथा बंगलौर में हैं।

रबड़ उद्योग

सन् 1960 से पूर्व भारत में प्राकृतिक रबड़ का

उत्पादन, केरल, तामिलनाडु, तथा कर्नाटक राज्यों तक ही सीमित था। किन्तु अब हमने कृत्रिम तथा सुधारा हुआ रबड़ उत्पन्न करके, इसका उत्पादन बढ़ा लिया है। छठी योजना के अन्त तक भारत में रबड़ का कुल उत्पादन सन् 1950 के उत्पादन की तुलना में ग्यारह गुणा अधिक होने की सम्भावना है।

रबड़ के जुतों के अतिरिक्त टायरों तथा रबड़ ट्यूबो की बढ़ती हुई मांग ने यह आवश्यक बना दिया है कि उत्तर प्रदेश में उपलब्ध चीनी उद्योग के गौण उत्पादन शीरे से, तथा आसाम में उपलब्ध खनिज तेल-गैस के अवांछनीय पदार्थों से रासायनिक रबड़ उत्पन्न की जाए। मुख्य रूप से रबड़ उद्योग हुगली की औद्योगिक पेटी तथा वृहत्त बम्बई प्रदेश में केन्द्रित है।

काँच उद्योग

आधुनिक बड़े तथा छोटे काँच के कारखानों की संख्या का तीन चौथाई उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और महाराष्ट्र राज्यों में है। भारत में काँच के 40 प्रतिशत कारखानों में पूर्ण रूप से चूड़ी बनाने का काम एक कुटीर उद्योग के रूप में मुख्यतया फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) में किया जाता है। शेष कारखाने उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा महाराष्ट्र के बम्बई क्षेत्र में हैं। यहां शीशियाँ, विज्ञान-संबंधी कार्यों के लिए शीशे की वस्तुएँ, तथा अन्य उपयोग में आने वाली वस्तुएँ बनाई जाती हैं। ये बलुआ-पत्थर के पठारो, अथवा उत्तम प्रकार के बालू के स्रोतों के समीप है, क्योंकि यही इस उद्योग के लिए मुख्य कच्चा माल है। भारत के काँच उद्योग में लगे श्रमिकों में से आधी संख्या में श्रमिक उत्तर प्रदेश में हैं और उत्तर प्रदेश की आगरा-इलाहाबाद पेटी में देश के काँच-उद्योग के श्रमिकों की एक-तिहाई संख्या रहती है।

कागज उद्योग

भारत में मशीनों द्वारा निर्मित कागज़ सर्वप्रथम सन् 1870 ई० में बना था। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व देश में 1,00,000 टन अधिक कागज़ के उत्पादन की क्षमता के 15 कारखाने थे। सन् 1971-72 तक कागज़ बनाने वाले कारखानों की संख्या 60 तक बढ़ गई जिससे सन् 1950-51 की तुलना में वास्तविक उत्पादन (सात लाख टन) में सात गुणी तथा उत्पादन क्षमता में दस गुणी वृद्धि हुई। यह उद्योग कच्चे माल के रूप में नर्म लकड़ी, लकड़ी की लुगदी, घास, कपास की रद्दी, रासायनों, हल्का जल, तथा शक्ति की आपूर्ति पर निर्भर करता है।

कागज़ कारखानों का वितरण अधिकतर खपत बाजार की निकटता तथा कच्चे माल के स्रोतों के आकर्षण पर निर्भर करता है। इन्हीं कारणों से, कलकत्ता क्षेत्र में काफी बड़े कागज़ के कारखाने हैं जो देश के समस्त उत्पादन का एक-चौथाई उत्पादन करते हैं। ये कारखाने पश्चिमी बंगाल में सुन्दरबन, बिहार, आसाम और उड़ीसा में पाये जाने वाले बाँस, तथा मध्य प्रदेश से उपलब्ध सवाई घास के ऊपर निर्भर करते हैं। दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र, जिसमें अधिक संख्या में कागज़ के कारखाने केन्द्रित हैं, महाराष्ट्र का है। यहाँ के कारखाने फटे पुराने कपड़े, रद्दी कागज़, तथा लुगदी को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करते हैं। शेष कारखाने बहुत अधिक विरल रूप में हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, गुजरात, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश में हैं। उत्तर-पूर्वी राज्यों में जहाँ कि सम्भवत: कागज़ बनाने वाले कच्चे माल की अधिकतम संपदा उपलब्ध है, सबसे पहला कागज उत्पादन केन्द्र सन् 1960 में स्थापित हुआ। समाचार-पत्रों के लिए कागज़ का उत्पादन केवल मध्य प्रदेश के नेपा नगर में होता है। इस कारखाने की उत्पादन क्षमता को बढ़ाकर 75,000 टन वार्षिक तक कर दिया गया है जिससे देश की भारी माँग की संभव आपूर्ति हो सके और विदेशों से इसके आयात को कम किया जा सके। भारत में, लकड़ी की लुगदी का मुख्य स्रोत हिमालय क्षेत्र के कोणधारी जंगलों की नर्म लकड़ी है किन्तु यह अभी भी परिवहन तथा अन्य सुविधाओं के अभाव के कारण उपयोग में नहीं लाई जा सकी। हमारे

यहाँ बहुत अधिक मात्रा में घास तथा बाँस हैं तथा अन्य अनेको अवांच्छनीय पदार्थ हैं जिनके प्रयोग से इस उद्योग को बड़े पैमाने पर चला कर कागज़ की मांग को पूरा किया जा सकता है।

चाय तथा काफ़ी उद्योग

चाय तथा काफ़ी संसाधित करने के कारखाने आसाम, पश्चिमी बंगाल, नीलगिरी की पहाड़ियो तथा हिमाचल प्रदेश में हैं जो कि हमारी घरेलू तथा निर्यात की आवश्यतताओं की आपूर्ति करते हैं।

खनिजों पर आधारित भारी उद्योग

भारत की आधुनिक मिलो में से अधिकतर खनिजों पर आधारित है। लोहा तथा इस्पात उद्योग देश के तीव्र औद्योगिकरण की आधार-शिला है। इसीलिए इस श्रेणी में इसे विशेष प्रमुखता प्राप्त है।

लोहा तथा इस्पात उद्योग

भारत में इस्पात के उत्पादन का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1907 में हुआ जब साक्ची (इस समय जमशेदपुर) के स्थान पर बिहार में जमशेदजी टाटा—जोकि आधुनिक भारत के निर्माताओं में से एक हैं, ने टाटा लोहा और इस्पात कम्पनी की स्थापना की। इस उद्योग के लिए लोह अयस्क, कोकिंग कोयला और चूने का पत्थर प्रमुख कच्चा माल है। ये सभी खनिज यहाँ केवल बहुलता में ही नहीं अपितु एक दूसरे के बहुत पास-पास दक्षिणी बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा तथा पूर्वी मध्य-प्रदेश के भागों में मिलते हैं।

भारत में सन् 1950-51 में लोहे का कुल उत्पादन 17 लाख टन तथा शुद्ध इस्पात का कुल उत्पादन 10 लाख टन था। सन् 1974-75 तक कच्चे लोहे का उत्पादन 75 लाख टन तथा शुद्ध इस्पात का उत्पादन 50 लाख टन तक बढ़ गया। निजी क्षेत्र के जमशेदपुर (बिहार) बर्नपुर (पश्चिमी बंगाल), तथा भद्रावति (कर्नाटक) के इस्पात कारखानों के अतिरिक्त सरकार ने स्वयं सार्वजनिक क्षेत्र में 4 बहुत बड़े कारखाने स्थापित करके इस उद्योग में पदार्पण कर लिया है। यह इस्पात केन्द्र दुर्गापुर, राउरकेला भिलाई और बोकारों के स्थानों पर क्रमश: पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा बिहार राज्यों में स्थित है। एक ओर तो पहले से स्थापित कारखानों की उत्पादन क्षमता बढ़ाई गई है तथा दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र में नए कारखाने (जो कि सामूहिक रूप से 'हिन्दुस्तान इस्पात' के नाम से जाने जाते हैं) स्थापित किए गये हैं ताकि आत्मनिर्भरता के साथ-साथ शुद्ध इस्पात का विदेशों को निर्यात भी किया जा सके।

इस्पात के कारखानों के स्थापना केन्द्र उत्तम प्रकार के लोह अयस्क, कोकिंग कोयले, तथा आवश्यक चूने के पत्थर जैसे पदार्थों की सापेक्षिक स्थिति को देख कर निश्चित किये गये हैं। कारखाने के स्थान पर तीनों कच्चे माल के पदार्थों को लाने का खर्च जितना ही कम होगा, उतनी ही सस्ती कच्चे लोहे तथा इस्पात के उत्पादन की दर होगी। इस दृष्टि से, पूर्व स्थित पुराने कारखानो में से कर्नाटक में भद्रावती के कारखाने में सबसे कम रेल की ढुलाई का भार व दूरी है जो कि प्रतिटन कच्चे लोहे के उत्पादन के लिए केवल 151.34 टन कि० है। किन्तु यह कम खर्च इतना अधिक सार्थक नहीं है क्योंकि यह क्षेत्र दक्षिण भारत में कोयला उत्पादक क्षेत्रो से बहुत अधिक दूरी पर स्थित है। इसलिए बहुत अधिक खर्चीली विद्युत विधि से लोहे की गलाई की क्रिया पूरी की जाती है। कच्चे लोहे के प्रत्येक टन के उत्पादन के लिए कच्चे माल को ले जाने के लिए रेल की भार-दूरी जमशेदपुर, बर्नपुर, राउरकेला, दुर्गापुर और भिलाई के कारखानों के लिए क्रमश: 570.8, 499.69, 818.7 और 1156.58 टन किलोमीटर है। यहां 'टन किलोमीटर' शब्द का तात्पर्य टनों में मापे गये आवश्यक कच्चे सामान की ढुलाई के लिए रेल की किलोमीटरों में गति से है। इस दृष्टि से जमशेदपुर की स्थिति आदर्श है। राउरकेला की स्थिति कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास के बाजारों से दूरी की दृष्टि से उत्तम है। भिलाई की स्थिति सबसे अनुपयुक्त है किन्तु मध्य प्रदेश में, कलकत्ता तथा बम्बई को मिलाने वाले

मुख्य रेल-मार्ग पर, स्थित होने के कारण, सार्वजनिक क्षेत्र में स्थित तीनों अन्य कारखानों की तुलना में खपत बाजारों से इसकी औसत दूरी सबसे कम है।

इस्पात उत्पादक कारखानों की सापेक्षिक स्थिति मानचित्रों (चित्र 26 क और 26 ख) तथा नीचे की तालिका में दी गई संख्या सामग्री के सारांश से देखी जा सकती है।
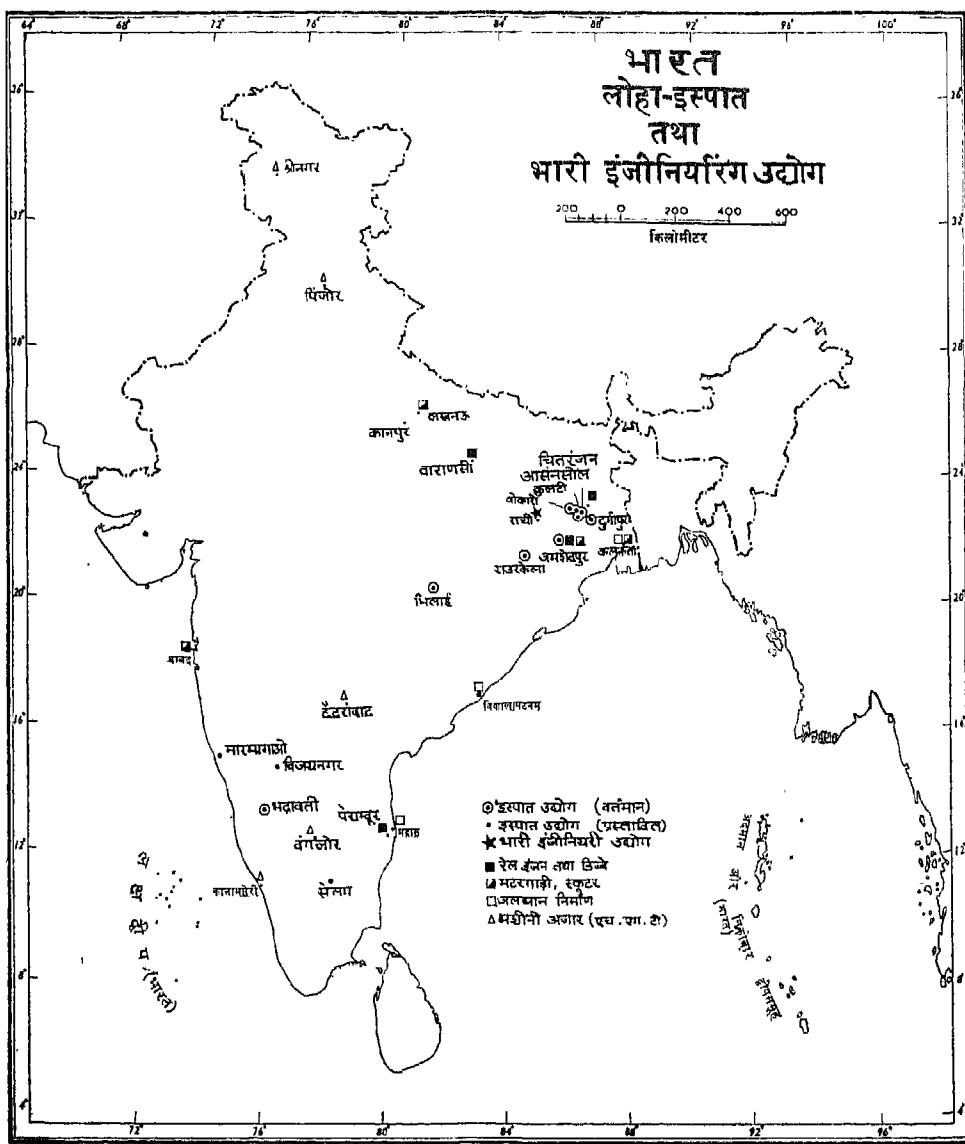
तालिका-10

भारत के लोहा तथा इस्पात के कारखानों की स्थितियाँ

अवस्थिति तथा अन्य विवरण	कच्चे माल के स्रोत का विवरण तथा इसकी दूरी (किलोमीटरों में)					
	लोह अयस्क	कोयला	चूने का पत्थर/मैंगनीज	जल तथा जल शक्ति	उत्पादन क्षमता (टनों में) -इस्पातपिण्ड-	समीपस्थ जलपोताश्रय तथा बाजार
1 भिलाई (मध्यप्रदेश) (सोवियत रूस की सहायता से निर्मित)	97 किलोमीटर दक्षिण की ओर लोह अयस्क में सम्पन्न पहाड़ी	घटिया प्रकार का कोरबा का कोयला 225 कि० मी० और झरिया के उत्तम कोयले का क्षेत्र 745 किलोमीटर	मध्यप्रदेश में 130 किलोमीटर के अन्दर	संग्रह के लिये तालाब	25 लाख	कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, औसत दूरी 1146 किलो मीटर
2 राउरकेला (उड़ीसा) (पश्चिमी जर्मनी की सहायता से निर्मित)	77 कि० मी० उड़ीसा की लौह-पेटी से	225 कि० मी० झरिया तथा 169 कि० मी० तालचर कोयला खानें	उड़ीसा में 222 कि० मी० अर्धव्यास के क्षेत्र के अंदर	ब्राह्मणी नदी तथा हीराकुंड शक्ति केन्द्र	18 लाख	विशाखा-पटनम् कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास, औसत दूरी 1247 कि० मी०
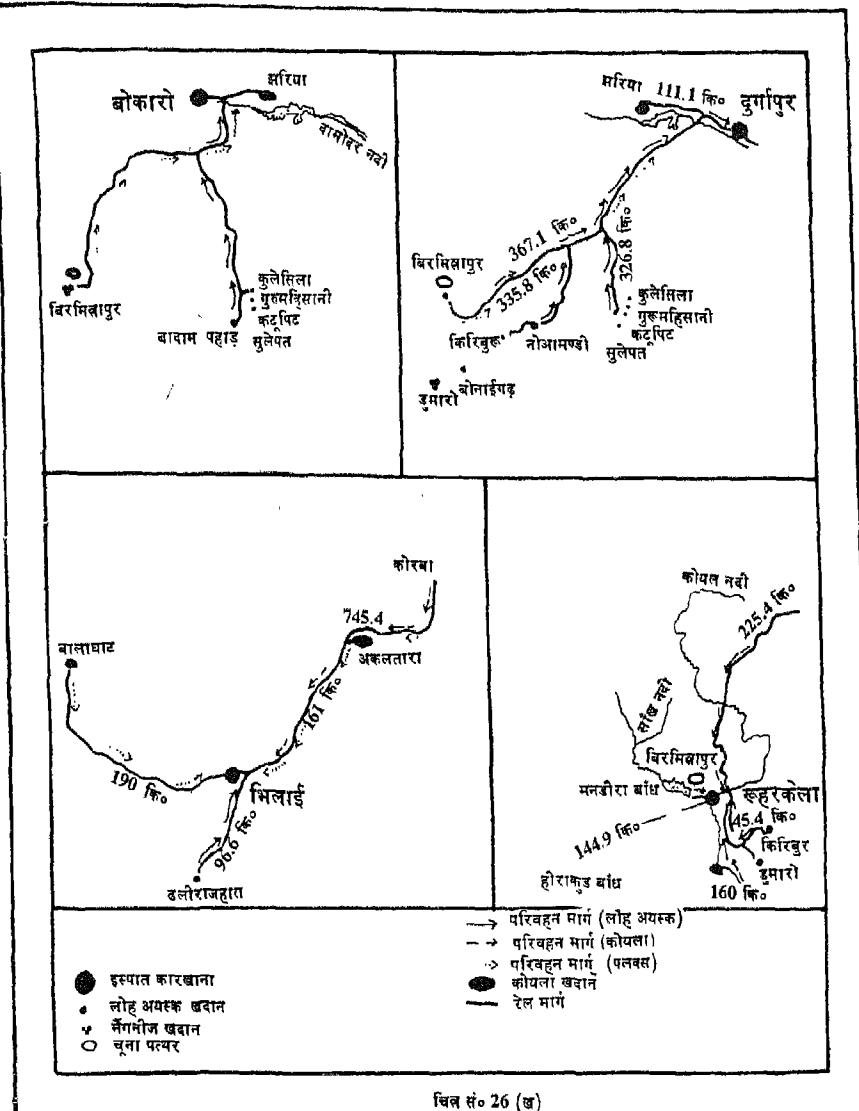
3 दुर्गापुर (प० बंगाल) इंग्लैंड की सहायता से निर्मित)	337 कि० मी० बिहार-उड़ीसा की खानें	111 कि० मी० झरिया कोयला क्षेत्र	367 कि० मी० उड़ीसा क्षेत्र से	दामोदर नदी	16 लाख	कलकत्ता 158 कि० मी०
4 जमशेदपुर (बिहार)	72-96 कि० मी० उड़ीसा की खानों से	177 कि० मी० झरिया की खानों से	177 कि० मी० बिहार-उड़ीसा की खानों से	जल एकत्रीकरण के लिये खरकई नदी पर बाँध	20 लाख	कलकत्ता 250 कि० मी०
5 बर्नपुर (प० बंगाल) (सन् 1972 से केन्द्र द्वारा नियन्त्रित)	277 कि० मी० छोटानागपुर पठार से	137 कि० मी० झरिया का कोयला	317 कि० मी० उड़ीसा की खानें	दामोदर नदी	10 लाख	कलकत्ता 217 कि० मी०
6 भद्रावती (कर्नाटक)	40 कि० मी० पहाड़ी के ऊपर	48 कि० मी० वनों से लकड़ी का कोयला तथा जल-शक्ति केन्द्र से 121 कि० मी०	43 कि० मी० अर्धव्यास के क्षेत्र में	स्थानीय संग्रह-स्थल	10 लाख	प्रायद्वीपीय भारत में निश्चित बाजार
7 बोकारो (बिहार) (सोवियत रूस की सहायता से निर्माणाधीन)	250 कि० मी० उड़ीसा लोह क्षेत्र	65 कि० मी० झरिया कोयला क्षेत्र	270 कि० मी० उड़ीसा क्षेत्र से	दामोदर नदी	17 लाख (पहला चरण)	कलकत्ता 300 कि० मी०

इस सब से बड़े इस्पात कारखाने की उत्पादन क्षमता 47 और (सारे चरण पूरे होने पर) 100 लाख टन तक बढ़ेगी ।

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

चित्र-26 (क) भारत में लोहा-इस्पात तथा भारी इंजीनियरिंग उद्योग के विभिन्न केन्द्रों को देखो। लोहा-इस्पात उद्योग को अन्य उद्योगों का आधार क्यों माना जाता है ?

चित्र सं० 26 (ख)

चित्र-26(ख) भारत के किन भागों तथा राज्यों में ये चार इस्पात कारखाने स्थित हैं ? इनकी स्थितियों का परीक्षण लोहे तथा अन्य कच्चे माल के स्रोतों से दूरी की दृष्टि से करो ।

भारत के सम्पूर्ण इस्पात क्षेत्र में इधर से उधर कच्चे माल को लाने ले जाने के लिए रेल तथा रज्जू-मार्गो के अत्यावश्यक महत्व का बहुत आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। पुराने तथा कुछ नये कारखाने कोयला क्षेत्रों के समीप स्थापित किए गए हैं क्योंकि 1 टन लोह अयस्क को गलाने के लिए दुगनी मात्रा में कोयले की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु अब राउरकेला, भिलाई तथा भद्रावती जैसे उत्तम प्रकार के लोह अयस्क क्षेत्रों के समीप कारखाने बनाकर इस उद्योग को दूर-दूर फैला कर, हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के इस एक-तरफा विकास को रोक दिया गया है। भारत ने दक्षिणी प्रदेश में 4 और लोहे तथा इस्पात कारखाने बनाने की योजना बनाई है, जोकि सेलम (तामिलनाडु), बेलारी-होसपेट (कर्नाटक), विशाखापटनम् (आन्ध्र प्रदेश) तथा पश्चिम तटीय प्रदेश में गोआ के समीप होंगे। फिर भी उत्पादन मूल्य में मितव्यता लाने के लिए, भारत के पूर्वी भाग में इस्पात के कारखानों का और अधिक स्थानीकरण हो सकता है। ये कारखाने बंगाल-बिहार के कोयले, उड़ीसा-बिहार की उत्तम प्रकार की लोह-अयस्क और उड़ीसा के चूने के पत्थर के ऊपर आधारित होंगे।

इस प्रकार भारत के बड़े-बड़े इस्पात कारखाने, भारत के मानचित्र पर, पंचवर्षीय योजना काल के अन्तर्गत, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी तथा सोवियत संघ जैसे विकसित देशों की सहायता से उदित हुए हैं। हम अभी भी अपने सभी साधनों को संचित करके, समय-समय पर निर्धारित उत्पादन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

भारी इंजीनियरी और मशीनरी औजारों के उद्योग

स्वतंत्रता से पूर्व भारत अपनी सभी प्रकार की मशीनों सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए पूर्ण-रूप से विदेशों पर निर्भर था। अब यह वस्त्र, चीनी, सीमेंट, कागज, चाय संसाधन तथा खनन उद्योगों संबंधी सम्पूर्ण मशीनों में आत्मनिर्भर है। भारी मशीनों के उत्पादन का लगभग 75% कलकत्ता, जमशेदपुर और झरिया-रानीगंज कोयला क्षेत्रों के आसपास केन्द्रित बहुत से कारखानों से प्राप्त होता है। बम्बई, भोपाल, मद्रास, कानपुर तथा लखनऊ में उपरोक्त केन्द्रों की अपेक्षा छोटे केन्द्र स्थापित हैं। राँची में भारी इंजीनियरी कार्पोरेशन अब लोहा तथा इस्पात उद्योग के लिये आवश्यक भारी मशीनों का निर्माण करता है। खनन सम्बन्धी मशीने दुर्गापुर में बनाई जाती हैं। भोपाल तथा हरिद्वार में 'भारी विद्युत मशीनों, के कारखाने हैं। घड़ियों से लेकर ट्रेक्टरों तक विभिन्न प्रकार के छोटे तथा मध्यम प्रकार के औजार 'हिन्दुस्तान मशीन टूल्स' की विभिन्न शाखाओं-बंगलोर (कर्नाटक), पिंजौर (हरियाणा), हैदराबाद (आंध्र प्रदेश), श्रीनगर (काश्मीर) और कालामसेरी (केरल) में बनते हैं।

हलके इंजीनियरी सामान बनाने वाली फैक्टरियां देश भर में कई एक स्थानों पर पाई जाती हैं। इन में हलकी मशीने, रेडियो यन्त्र, रिफ्रेजीरेटर, टेलीफोन, वैज्ञानिक तथा शल्य सम्बन्धी यंत्र और औजार तैयार किए जाते हैं। ऐसे यन्त्रों की मांग विदेशों में बहुत अधिक हो जाने से भारत से इनका निर्यात बढ़ रहा है।

परिवहन उद्योग के क्षेत्र में, भारत रेल के इंजनों, यात्रियों के लिए रेल के डिब्बों तथा सामान ढोने के डिब्बों में पूर्णत: आत्मनिर्भर हो गया है। यह भारी संख्या में इनका निर्यात भी करता है। बिहार के 'चितरंजन रेल के इंजन बनाने के कारखाने' ने, अपने प्रथम 25 वर्षों में 2351 भाप से चलने वाले, 469 विद्युत से चलने वाले, तथा 245 डीजल से चलने वाले रेल के इंजन बनाये हैं। रेल के इंजनों का निर्माण अब वाराणसी और जमशेदपुर में भी होता है। सवारी गाड़ी के डिब्बे मद्रास के समीप पैराम्बूर में बनाये जाते हैं तथा सामान ढोने के डिब्बे अनेकों स्थानों पर बनते हैं।

इस समय परिवहन यंत्रों के 75% से अधिक कलपुर्जे भारत में ही बनते हैं और इनको सैनिक तथा असैनिक दोनों ही प्रकार के उपयोग के लिए कलकत्ता, बंबई मद्रास तथा जमशेदपुर जैसे उपयुक्त स्थानों पर जहाँ यन्त्रिकी दक्षता भी उपलब्ध है, एक साथ जोड़ कर तैयार कर लिया जाता है।

भारत में विशाखापट्टनम्, कलकत्ता तथा बम्बई के पास माजगाँव तीनों स्थानों पर एक-एक, जलयान बनाने का पोतप्रागण क्षेत्र में है और इन में नौ-सैनिक तथा यात्रियों और सामान लाने ले जाने के जहाज़ों, माल नौकाओं, तेल को साफ करने के तथा निकर्षण पोतों और तटपोतों का निर्माण होता है। सबसे पहले, विशाखापट्टनम् के पोतप्रागण ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से अब तक 60 से अधिक जहाज बनाये हैं। कोचीन का पोतप्रांगण जापानी सहयोग से बन रहा है और यह भारत में सबसे बड़े जहाज़ों का निर्माण करेगा।

बंगलोर के 'हिन्दुस्तान वायुयान संस्थान' ने कृषि संबंधी उपयोग के लिए हलके 'कृषक' तथा 'पुष्पक' विमानों का निर्माण किया है। इसने 'किरण' (शिक्षण के लिये एक जेट वायुयान), मारुत (पराध्वनिक जेट लड़ाकू वायुयान), हेलीकॉप्टर तथा भारवाहक वायुयान भी बनाए हैं। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र बंगलोर, कानपुर, नासिक, कोरापुट, हैदराबाद और लखनऊ हैं।

सीमेंट उद्योग

भवन बनाने तथा अन्य निर्माण कार्यों के विकास की गति इतनी तीव्र रही है कि भारी संख्या में सीमेंट के कारखाने (उत्पादन सन् 1950-1974 के काल में 27 लाख टन से 1 करोड़, 47 लाख टन तक बढ़ा) भी इस निरंतर बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असमर्थ रहे हैं। ये कारखाने विभिन्न भागों में उत्तम प्रकार के चूने के पत्थर के स्रोतों के समीप स्थापित है। चूने का पत्थर ही इसका मुख्य घटक है और अभी तक पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। भविष्य में सीमेंट के योग्य चूने के पत्थर की सीमित आपूर्ति को ध्यान में रखते हुए, इस्पात कारखानों से धातु-मैल तथा उर्वरक कारखानों से प्राप्त कीच को इसके स्थान पर उपयोग में लाए जाने की संभावना है। इस उद्योग में प्रयुक्त होने वाले कोयले की आधी मात्रा अभी भी दामोदर क्षेत्र से आती है। अपेक्षाकृत कम उपलब्ध जिप्सम को बचाकर रखने की आवश्यकता है। सीमेंट निर्माण में प्रयुक्त होने वाली उत्तम प्रकार की मृतिका बहुत अधिक मात्रा में मिल जाती है।

भारत में सीमेंट के कारखानों का वितरण बहुत अधिक असमान है जिससे इसको देश के विभिन्न दूरस्थ भागों तक पहुंचाने में परिवहन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। छोटा नागपुर प्रदेश में इस उद्योग का बहुत अधिक स्थानीकरण है, तथा इसके पश्चात् पश्चिमी भारत का मालवा पठार तथा गुजरात राज्य का काठियावाड़ तटीय क्षेत्र आते हैं। प्रायद्वीपीय भारत के चार दक्षिणी राज्यों में सीमेंट कारखानों का वितरण बहुत कुछ एक समान है।

रसायन उद्योग

इस महत्त्वपूर्ण उद्योग ने पंचवर्षीय योजना काल में उल्लेखनीय उन्नति की है। देश के विभिन्न भागों में इस समय 250 से भी अधिक रसायन बनाने वाले कारखाने हैं जिनमें लगभए 35,000 श्रमिक कार्यरत हैं।

भारी रसायन

भारी मूल रासायनों से तात्पर्य उन रसायनों से है जो भारी मात्रा में उत्पन्न किए जाते हैं तथा कच्चे माल के रुप में अथवा संसाधक कारकों के रूप में, अन्य ऐसे उत्पादों को तैयार करने में प्रयुक्त होते हैं। भारत के औद्योगिक विकास में यह एक सबसे कमजोर कड़ी थी। इस वर्ग के अंतर्गत, सोडा यश, कास्टिक सोडा तथा गंधक का तेजाब, मुख्य उत्पादों के रूप में आते हैं। कास्टिक सोडा तथा सोडा एश के काखाने प० बंगाल में रिसरा, तमिल नाडु में तूतीकोरन तथा मेटूर में हैं और सबसे बड़ा कारखाना गुजरात के दक्षिणी तट

पर मिथापुर में है। इनके लिए चूने के पत्थर तथा समुद्री खारे पानी की समीपता मुख्य सहायक तत्व रहे हैं। भारत में सन् 1974-75 में कास्टिक सोडा 4 लाख 20 हज़ार टन तथा सोडा एश 5 लाख 10 हज़ार टन तैयार हुआ।

गंधक के तेजाब का उत्पादन देश के औद्योगीकरण की अवस्था का वास्तविक सूचक होता है। इसके कारखाने मुख्यतया पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र, बिहार तथा गुजरात में हैं। इसका उत्पादन सन् 1950-51 में 1 लाख टन से बढ़कर सन् 1974-75 में 13 लाख टन तक हो गया। फिर भी यह अभी देश की अपनी आवश्यकता से बहुत कम है।

उर्वरक

भारत में रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन सन् 1950-51 में 18000 टन से बढ़कर सन् 1974-75 में 149,5000 टन हो गया। फिर भी भारत में कृषि भूमि के प्रति हेक्टेयर क्षेत्र में औसत रूप से इसका उपयोग केवल 13 किलोग्राम है, जबकि इसके लिये विश्व का औसत 47 किलोग्राम बैठता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में इसके कारखाने सिन्द्री, नंगल, ट्रोम्बे, गोरखपुर, नामरूप (आसाम), दुर्गापुर, बरौनी, रामागुण्डम (आंध्र प्रदेश), तालचिर (उड़ीसा) हल्दिया (पं० बंगाल) अल्वाए, (केरल) कोचीन, मद्रास, राउरकेला तथा नेवेली में हैं। निजी क्षेत्र के प्रमुख कारखाने इनदौर, वाराणसी, वदोदरा, विशाखापट्टनम, कोटा और कानपुर में हैं। और क्योंकि कुछ और कारखाने निर्माणाधीन हैं, इस कारण शीघ्र ही उत्पादन लगभग तीन गुणा अधिक बढ़ जायेगा। देश में, जबकि हल्के पेट्रोलियम नैफ्था का आधिक्य है और इस कच्चे माल से नाइट्रोजन तथा अमोनिया उर्वरक बनाने में कोई समस्या नहीं है। परन्तु हमें मिश्रित प्रकार के उर्वरक बनाने के लिए चट्टानी फास्फेट तथा गंधक का आयात अभी भी विदेशों से करना पड़ता है। इस प्रकार के उर्वरक कारखानों को गोआ, ट्रोम्बे, कोचीन तथा मद्रास जैसे जलपोताश्रयों के समीप स्थापित करने की आवश्यकता है, जहां ये संभावित आयात किये हुए कच्चे माल को आसानी से प्राप्त कर सकें।

हल्के रासायनिक उद्योग, दवाईयों, रंगों, पेन्ट, कीटनाशकों, प्लास्टिक, वार्निश, साबुन और प्रसाधन सामान के उत्पादनों पर निर्भर करता है। ये मुख्य तौर से कोयला-गैस की गौण-उपज, कोलतार में प्राप्त जैविक रासायनों से तैयार किया गया पदार्थ है। हिमालय के नुकीली पत्ती के बनों से प्राप्त कच्चा बिरोजा, बैराइट्स, बॉक्साइट, मैंगनीज, तथा वनस्पति तेल जैसे कच्चे माल से भी यह वस्तुएं तैयार की जाती हैं। ये रासायन, कलकत्ता, जमशेदपुर, बम्बई, झरिया तथा केरल प्रदेश में बनाये जाते हैं। घरेलू उद्योग के रूप में दियासलाई बनाने का काम मद्रास क्षेत्र में होता है। 'हिन्दुस्तान कीटनाशक' संस्थान की दो मिलें देहली और अल्वाए (केरल) में हैं।

हम को प्रतिजैविकी दवाइयों में आत्मनिर्भर बनाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थान भी है जो ऋषिकेश (उ० प्र०), पूणे के समीप पिम्परी में हैं, और हैदराबाद में कृत्रिम दवाइयां बनाने का एक कारखाना है।

भारत में वैद्युत-रासायन उद्योग की स्थापना अपेक्षाकृत नई है। देश में, विद्युत शक्ति अधिक महंगी होने के कारण, हमारे यहाँ कैल्शियम-कार्बन के यौगिक का केवल एक भारी कारखाना कलकत्ता के समीप है।

पेट्रो-रासायनों के विविध औद्योगिक उपयोग हैं। ये देश की बहुत सी कृषि संबंधी खनिज उत्पादों की कमी को, सबसे कम खर्चीले ढ़ंग से पूरा कर सकते हैं। इस विधि का तात्पर्य खनिज तेल से विभिन्न प्रकार के रासायन प्राप्त करना है, जो भारत के लिए अभी भी एक नया क्षेत्र है।

औद्योगिक स्थापन

यद्यपि कुछ उद्योगों का विकास अनायास ही हुआ है, किन्तु साधारणतया कुछ ऐसे आधार होते हैं। जिनके कारण किसी स्थान-विशेष पर कोई उद्योग स्थिर होता है। इन कारणों में से बहुत से

कालान्तर में भुला दिये जाते हैं अथवा महत्वहीन हो जाते हैं, अथवा इतने महत्वपूर्ण नहीं रहते जितने महत्वपूर्ण ये किसी उद्योग की स्थापना के समय थे। ऐसा विशेषकर पुराने अथवा बहुत पहले से स्थापित उद्योगों के विषय में हो जाता है।

किसी एक उद्योग की स्थापना से संबंधित महत्वपूर्ण भौगोलिक तत्वों का सापेक्षिक महत्व होता है। उदाहरणार्थ कच्चे माल की उपलब्धि शक्ति के साधन, जल आपूर्ति, श्रमिकों की आपूर्ति, बाजार तथा परिवहन की सुविधाएँ। किन्तु, औद्योगिक स्थापना को प्रभावित करने वाले, इन केवल भौगोलिक तत्वों के अतिरिक्त ऐतिहासिक, मानवीय, राजनैतिक तथा आर्थिक प्रकार के तत्व भी हैं जिन में अब भौगोलिक तत्वों से भी कहीं अधिक प्रभावशाली बनने की प्रवृत्ति है।

ऐसे उद्योग जो अपने पहले प्रमुख स्तर पर भारी तथा अधिक आयतन वाले कच्चे माल का प्रयोग करते हैं, साधारणतया कच्चे माल की आपूर्ति के स्थानों के समीप ही स्थित होते हैं। यह ऐसे कच्चेमाल के सम्बन्ध में सत्य है जो निर्माण की प्रक्रिया में अपना भार खो देते हैं। यह परिवहन के अधिक खर्च को सहन नहीं कर सकते, अथवा अपनी शीघ्र खराब होने की प्रवृत्ति के कारण दूरस्थ स्थानों को नहीं भेजे जा सकते। इन्हीं कारणों से पश्चिमी बंगाल में जूट मिलें, उत्तर प्रदेश में चीनी की मिलें और महाराष्ट्र तथा गुजरात में कपड़ा बनाने की मिलों का स्थानीकरण हुआ है। लोहा तथा इस्पात जैसे उद्योग, जिन में कोयला तथा लोह-अयस्क या खनिजों का प्रयोग बहुत भारी मात्रा में होता है और जिनके निर्माण की प्रक्रिया में-भार कम हो जाता है, साधारणतया कोयले की खानों के समीप स्थापित होते हैं। वास्तव में ऐसी दशा में, कच्चे माल का आकर्षण कम रहता है और परिवहन का भारी खर्च जो भारी तथा अधिक परिमाण परन्तु कम मूल्य वाले पदार्थों पर होता है, निर्णायक सिद्ध होता है। इस लिए ऐसे पदार्थों पर आधारित उद्योगों को इनके आपूर्ति केन्द्रों के समीप स्थापित करने का यत्न किया जाता है। हमारे लोहा तथा इस्पात के बड़े-बड़े कारखानों को बिहार और पश्चिमी बंगाल में कोयला क्षेत्रों और संभवतया लोह-अयस्क उत्पादन केन्द्रों के समीप स्थापित करने की प्रवृत्ति इसी लिए है क्योंकि ये पदार्थ बहुत दूर का परिवहन खर्च सहन नहीं कर सकते। किन्तु साधारणतया किसी कारखाने को ऐसे स्थान पर स्थापित करके, जहां सभी आपेक्षिक सुविधाएँ सन्तुलित रूप में हों, एक प्रकार का मध्यम सा मार्ग अपनाना पड़ता है। सीमेंट के कारखाने तथा ईंट बनाने के भट्टे भी, जहां तक सम्भव है, चूने के पत्थर की खादानों या मृत्तिका प्राप्ति के स्थानों के समीप स्थापित होते हैं।

सभी आधुनिक उद्योग किसी न किसी शक्ति के साधन पर निर्भर हैं। लोहा तथा इस्पात के कारखाने जोकि शक्ति के साधन के रूप में भारी मात्रा में कोकिंग कोयले पर निर्भर करते हैं, मुख्य रूप से कोयला क्षेत्रों के समीप हैं। अन्य वैद्युत-धातु सम्बन्धी तथा विद्युत-रासायन जेसे उद्योग जो सस्ती जल-विद्युत के बहुत बड़े उपभोक्ता हैं, साधारणतया जल-विद्युत उत्पादन क्षेत्रों में पाए जाते हैं। क्योंकि खनिज तेल को पाइप नालियों तथा विद्युत की तारों द्वारा दूरस्थ स्थानों तक पहुँचाया जा सकता है, इस लिए इन साधनों ने उद्योगों को अधिक विस्तृत क्षेत्रों में स्थापित करके उनके विकेन्द्रीकरण में सहायता की है। दक्षिणी राज्यों में तभी ऐसे उद्योग स्थापित हुए जब इन कोयले से दूर स्थित क्षेत्रों में जल-विद्युत का विकास हो गया था। इस प्रकार बहुत बड़े तथा भारी उद्योगों की स्थापना को प्रभावित करने वाले अन्य सभी तत्वों की उपेक्षा करते हुए कभी-कभी ये उद्योग ऐसे स्थानों पर स्थापित हो जाते हैं जहाँ शक्ति तथा कच्चे माल को सबसे अधिक लाभदायक रूप में प्राप्त करने की सुविधा हो। जमशेदपुर में 'टाटा लोहा तथा इस्पात उद्योग', कोरबा (म०प्र०) में नया अलमूनियम उत्पादक केन्द्र, खेतरी (राजस्थान) में ताँबे को गलाने का कारखाना और नंगल (पंजाब) में उर्वरक का कारखाना स्थापित करने में अन्य सभी तत्वों से बढ़कर शक्ति साधनों तथा

कच्चे माल के भंडारों की समीपता पर अधिक बल दिया गया।

कच्चे माल को एक स्थान पर एकत्रित करने के लिए तथा तैयार माल को बाजार तक पहुंचाने के लिए, स्थल अथवा जल परिवहन के साधन आवश्यक हैं। भारत में जलपोताश्रय नगरों को इनके पृष्ठ प्रदेशों से रेलों द्वारा मिला कर ही कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के आस-पास अनेकों उद्योग स्थापित करने की भूमिका तैयार की गई। और क्योंकि औद्योगिक विकास भी संचार तथा परिवहन के साधनों के विकास को बढ़ावा देता है, इसलिए यह अनुमान लगाना बहुत कठिन है कि किसी उद्योग विशेष की स्थापना में उस क्षेत्र में उपलब्ध प्रारंभिक परिवहन के साधनों ने कहां तक बुनियादी सहायता पहुँचाई है।

उद्योगों के लिए श्रमिकों की पूर्ति दो प्रकार से महत्वपूर्ण है—

1. प्राय: बहुत अधिक संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है।
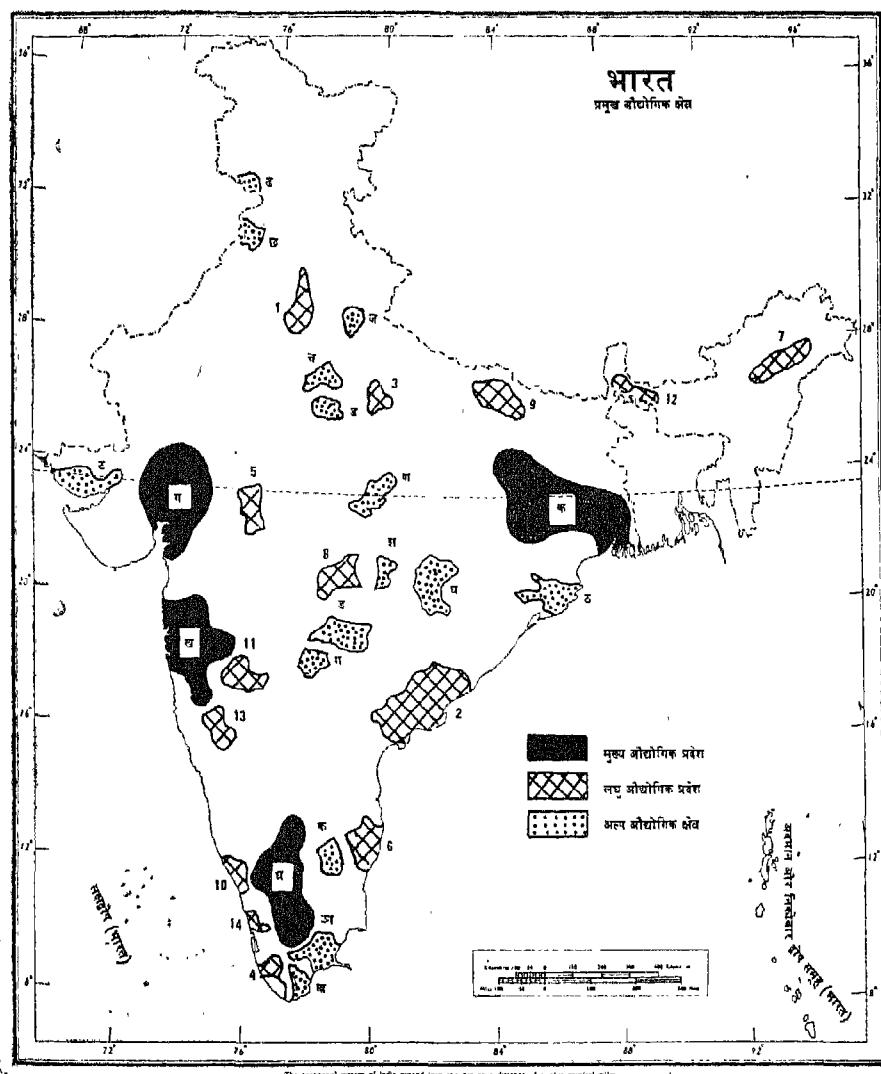
2. दक्ष तथा यान्त्रिकी अनुभव वाले श्रमिकों की जरूरत रहती है।

हमारे देश में, बढ़ते हुए यंत्रीकरण के बावजूद भी आधुनिक उद्योगों में भारी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता है। ऐसे उद्योगों को बड़े नगरीय केन्द्रों में स्थापित करके अकुशल, साधारण प्रकार के श्रमिक प्राप्त करने में कोई समस्या नहीं रही। यद्यपि किसी औद्योगिक इकाई की स्थापना, सभी संबंद्ध तत्वों के संतुलन को बहुत ध्यानपूर्वक ढ़ग से निश्चित करने से होती है, फिर भी हलके उपभोग के सामान तथा कृषि पर आधारित उद्योग के लिए, प्राय: बहुत अधिक संख्या में श्रमिकों की आपूर्ति अधिक आवश्यक है।

आजकल आधुनिक वैज्ञानिक तथा यान्त्रिकी विकास के कारण वास्तविक कच्चे माल के स्थान पर उनके अन्य सम्भव विकल्प भी प्रयुक्त होने लगे हैं। विद्युत शक्ति के प्रसारण तथा श्रमिकों की बढ़ती हुई गतिशीलता ने कारखानों की स्थिति को निर्धारित करने वाले भौगोलिक तत्वों के प्रभाव को कम कर दिया गया है। उद्योग के खर्च के लिए पूंजी निवेश प्राप्ति, उद्योग के लिए उत्तम प्रकार की प्रबंध व्यवस्था और औद्योगिक उत्पादों के बेचने की व्यवस्था, 'औद्योगिक स्थापना' के महत्वपूर्ण अ-भौगोलिक तत्व हैं। दिनों-दिन प्रादेशिक विषमताओं, वायु तथा जल प्रदूषण तथा बड़े नगरों में उद्योगों के भारी जमघट को कम करने के लिए उद्योगों की स्थिति और इनके वितरण को सुनियोजित करने के लिए स्वयं सरकार की नीति भी कम महत्वपूर्ण तत्व नहीं है। अब सभी प्रकार के उद्योगों को एक ही क्षेत्र में, स्थापित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस प्रकार ये उद्योग ऐसे साँझे क्षेत्र की सभी जल तथा शक्ति साधनों जैसी सुविधाओं को प्राप्त कर लेते हैं तथा आवश्यकता अनुसार अपने उत्पादों को एक-दूसरे को देते लेते रहते हैं। इसका सबसे नया उदाहरण, हमारे देश में, अधिक संख्या में 'छोटी औद्योगिक इकाइयों' के समूह हैं जिन्हें उपनगरों तथ कस्बों में स्थापित किया गया है।

यहाँ देश में औद्योगिक स्थापना पर पंचवर्षीय योजनाओं के प्रभाव का अध्ययन कर लेना भी प्रासंगिक प्रतीत होता है। यद्यपि कारखानों की उचित व ठीक-ठीक स्थापना महत्वपूर्ण भौगोलिक तत्वों से प्रभावित होती है, किन्तु योजना अधिकारियों ने विभिन्न राज्यों में समान रूप से कारखानों की स्थापना करने के प्रयास किए हैं एक ओर सार्वजनिक क्षेत्र में विशाल कारखानों के निर्माण तथा दामोदर-कोयला-क्षेत्र तथा उत्तर-पूर्वी प्रायद्वीपीय क्षेत्र में समुचित स्थानों पर भारी आधारभूत उद्योगों के केन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया गया है। दूसरी ओर इसी अवधि में दक्षिणी भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक केन्द्रों के आसपास अन्य सहायक उद्योगों का उदय हुआ भी है तथा धीरे-धीरे ये बिछड़े हुए संपदा युक्त भागों की ओर फैलते गए हैं। विद्युत शक्ति के विस्तार ने छोटे तथा साधारण स्तर के उद्योगों के विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन दिया है। स्वतंत्र भारत के नये योजना काल में, उर्वरक कारखानों, लोहा तथा इस्पात के कारखानों,

मानचित्र-27

चित्र-27 भारत के कई अधिक एवं कम महत्व वाले क्षेत्रों पर ध्यान दो जहां बड़ी संख्या में उद्योगों का संकेन्द्रण है तथा काफी बड़ी संख्या में श्रमिक कारखानों में काम करते हैं। चार प्रमुख औद्योगिक समूहों को खोजो और चित्र संख्या 4 में दिखाए गये शहरी जनसंख्या के प्रारूप से उनका अन्तसम्बिन्ध बताओ। भारत में नगरीकरण एवं औद्योगिक समूहों के मध्य तुम क्या संबंध पाते हो ?

इंजिनियरी के संस्थानों, मशीन तथा औजारों के कारखानों, (जिन में रेलों, जलयानों, वायुयानों तथा सुरक्षा संबंधी संस्थान और तेल-शोधक कारखाने भी शामिल हैं) की संख्या वृद्धि में राज्य सरकारों की प्रादेशिक औद्योगिक नीति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हम यहाँ यह कह कर इस कथन को समाप्त कर सकते हैं कि उद्योगों की एक मात्र भौगोलिक दृष्टि से उचित स्थानों पर स्थापना के परम्परागत स्पष्टीकरण अब उतने सत्य प्रतीत नहीं होते।

पुराने समय में, विशिष्ट प्रकार के हस्तकला उद्योग उन स्थानों पर स्थापित होते थे, जिन्होंने इस क्षेत्र में परम्परागत प्रसिद्ध प्राप्त की हुई थी या जहां इन वस्तुओं की खपत हो जाती थी। हमारा हाथ से कताई तथा बुनाई का उद्योग भारत के प्राय: प्रत्येक गाँव में देखा जा सकता है। विख्यात पीतल तथा धातु-कला, दुशालें तथा साड़ियाँ केवल उन स्थानों में बनाई जाती थीं जो वहाँ के परम्परागत कारीगरों दक्षता के लिए प्रसिद्ध थे तथा जहाँ इनको उस समय के राजाओं से आश्रय प्राप्त था।

अब परम्परागत अथवा आधुनिक यान्त्रिकी दक्षता, बहुत समय से प्रसिद्ध प्राप्त किये हुये स्थानों में किसी उद्योग को चलाने के लिए केवल एक क्रियात्मक तत्व रह गयी है। बाद में वहां की आरंभिक सुविधाएँ तो अदृश्य हो जाती हैं, और आधुनिक उद्योगों के लिए आवश्यक नई दक्षताओं को नये रूप में सीखने तथा विकसित करने की आवश्यकता बनी रहती है। रेल के इंजन बनाने (बंगाल में चितरंज स्थान पर), तथा रेल के डिब्बे बनाने के कारखाने (मद्रास के समीप पैराम्बूर स्थान पर) ऐसे स्थानों पर स्थापित हुए हैं जहाँ परिवहन तथा यान्त्रिकी दक्षता में निपुण श्रमिकों की सुविधाएँ उपलब्ध हो सकी।

किसी उद्योग का अन्तिम उद्देश्य बिक्री के लिए सामान उत्पन्न करना है। इसलिए बाजार का आकार तथा इसकी खरीदने की क्षमता अथवा लोगों के रहन-सहन का स्तर, किसी उद्योग स्थापना में, महत्वपूर्ण विचारणीय तथ्य है। आजकल प्रचार तथा सामान को अपेक्षाकृत कम खर्च पर इधर-उधर भेज कर, बाजारों का विस्तार कर लिया गया है। कुछ ऐसे ही कारणों से, सन् 1905 के बाद से कलकत्ता प्राय: विश्व भर में कपास से तैयार वस्तुओं की बिक्री के लिए एक बहुत बड़ा केन्द्र बन गया जबकि इस क्षेत्र में न कपास पैदा होती है और न ही कोई बहुत सूती वस्त्र तैयार करने वाले कारखाने यहां हैं। जनसंख्या पर आधारित हल्के उद्योग जिनमें दैनिक उपभोग की वस्तुएँ बनती हैं, मुख्यतया अपने ऐसे ग्राहकों पर निर्भर करते हैं जो भारी संख्या में बड़े-बड़े शहरों में रहते हैं। अब यह ठीक ही अनुभव किया गया है कि ग्रामीण क्षेत्र में औद्योगिक विकास के लिए, ग्रामीण जनता की क्रय क्षमता को भी बढ़ाना होगा।

जल का महत्व इतना अधिक हो गया हैं कि विद्युत उत्पादन में इसके प्रयोग के अतिरिक्त भी इस पर चर्चा करने की आवश्यकता है। हमें खाद्य संसाधन, रासायन, परमाणु शक्ति तथा कागज उत्पादन जैसे उद्योगों के लिए बहुत अधिक मात्रा में पानी की आवश्यकता है। कागज निर्माण, कपड़ा तथा मद्य उद्योगों के लिए उत्तम प्रकार के जल की आपूर्ति आवश्यक है।

यहां इस बात पर बल देने की आवश्यकता तो नहीं है कि कई एक आधुनिक औद्योगिक संकुलों की स्थापना तथा उनके विस्तार के लिए खुला, लम्बा-चौड़ा भू-भाग, उपयुक्त समसी जलवायु, शुद्ध हवा इत्यादि तत्व भी इतने ही महत्व के हैं।

औद्योगिक समूहीकरण

भारत के किसी क्षेत्र में उद्योगों के केन्द्रीयकरण ने विभिन्न आकार के समूहों को जन्म दिया है। भारत का मानचित्र (चित्र-27) ऐसे तीन प्रकार के प्रमुख औद्योगिक क्षेत्रों को दर्शाता है, जो इस प्रकार हैं—(1) मुख्य औद्योगिक प्रदेश, (2) लघु औद्योगिक प्रदेश तथा (3) अन्य औद्योगिक क्षेत्र। सम्पूर्ण देश में निर्माण उद्योगों को फैलाने के बजाय, विशिष्ट क्षेत्रों में एक दूसरे के पास इनकी स्थापना ही इस प्रकार के समूह बने हैं। भारत के किसी

भी प्रदेश में औद्योगिक समूहों के बनने में सहायक समस्त कारकों में से, कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की औसत दैनिक संख्या को सर्वोत्तम माना गया है। ऐसे हर एक मुख्य प्रदेश की पहचान इस बात से की जाती है कि वहां की न्यूनतम दैनिक श्रमिक संख्या एक लाख 50 हजार हो। लघु औद्योगिक प्रदेश में यह 25,000 और अन्य छोटे क्षेत्रों में इससे अधिक नहीं होनी चाहिए। अन्य 'छोटे क्षेत्र' सारे देश में बिखरे पड़े हैं। जहाँ भी स्थानिक श्रेत्रों में शक्ति साधन तथा बाजार उपलब्ध हो सके, वहां ही ऐसे केन्द्रों का जन्म होता गया।

भारत के पाँच बड़े औद्योगिक प्रदेशों में से 'हुगली औद्योगिक पेटी' प्रमुख है। इसके पश्चात् बम्बई-पुणे तथा अहमदाबाद-बड़ौदा प्रदेशों का स्थान है जो क्रमशः दूसरे तथा तीसरे स्थान पर हैं।

हुगली नदी ने देश के अन्दर नदी पर स्थित जलपोताश्रय के विकास के लिए सर्वोत्तम स्थिति प्रदान की है। नदी के दोनों ओर मुख्य हुगली औद्योगिक प्रदेश का प्रदुर्भाव हुआ। यहां पर ही कलकत्ता का 17वीं शताब्दी का पुराना व्यापार केन्द्र विकसित होकर, वर्तमान औद्योगिक क्षेत्र के रूप में खुले सागर से 97 किलोमीटर अन्दर, अस्तित्व में आया है। यह गंगा तथा इसकी सहायक नदियों द्वारा बहुत अच्छी प्रकार से अपने गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदान के घनी जनसंख्या वाले पृष्ठ प्रदेश से संबद्ध हो गया था। नाव्य नदियों के अतिरिक्त, बाद में सड़कों तथा रेल मार्गों ने भी, कलकत्ता जलपोताश्रय के लिए बहुत अधिक लाभदायक सम्पर्क साधन प्रदान किए हैं।

छोटा नागपुर के पठार में कोयले तथा लोहे की जानकारी आसाम तथा उत्तरी बंगाल के चाय रोपण, बंगाल के डेल्टा प्रदेश में जूट की संसाधन प्रक्रिया ने इस प्रदेश में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया है। यहां के लिए, अपेक्षाकृत पिछड़े हुए बिहार तथा उड़ीसा राज्यों से सुगमता से सस्ते श्रमिक मिल जाते हैं। हुगली नदी के दोनों ओर दामोदर घाटी के कोयले की सहायता से, जूट मिलों तथा अन्य कारखानों की शृंखला सी स्थापित हो गई है। उस पुराने समय में यहां के जलपोताश्रय की स्थिति इंगलैण्ड को कच्चे माल के निर्यात तथा वहां से मशीनरी, तैयार माल तथा पूंजी आयात के लिए सबसे अधिक उपयुक्त थी। कलकत्ता की इंजीनियरी, चमड़े के सामान और बहुत अधिक संख्या में दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तैयार करने वाले कारखानों का उदय समीपवर्ती क्षेत्रों से कच्चे माल के लाने तथा तैयार माल को उपभोक्ता स्थानों तक पचाने पहुंचाने से हुआ है। इस प्रकार इस प्रदेश के विकास में आवागमन तथा संचार के साधनों का जाल उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि इसकी अनुकूल भौगोलिक स्थिति।

सन् 1947 में, पुराने बंगाल के विभाजन के तुरन्त पश्चात्, इस प्रदेश को कुछ वर्षों के लिए जूट (कच्चे माल) की कमी का सामना करना पड़ा क्योंकि जूट उगाने वाला क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगला देश) में चला गया था। हमारे देश ने जूट के उत्पादन में धीरे-धीरे वृद्धि कर के इस समस्या को हल कर लिया। इस भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन ने कलकत्ता तथा आसाम के बीच के सस्ते तथा सीधे आन्तरिक जल मार्गों को भी काट दिया था। और इन सब से भी अधिक संकट उत्पन्न करने वाली समस्या थी हुगली नदी में चौकाने वाली गति से मिट्टी के उत्तरोतर बढ़ते हुए निक्षेपों की। खाड़ी के शीर्ष स्थान से कलकत्ता पोताश्रय-गोदी तक जलमार्ग में, बड़े जहाजों के अन्दर आने के लिए जल की न्यूनतम गहराई 9.2 मीटर होनी चाहिए। कलकत्ता जलपोताश्रय के जीवन की रक्षा के लिए जलमार्ग को शीघ्रता से भरने वाले निक्षेपों को बाहर निकालने का कार्य बहुत अधिक खर्चीला था और इस समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं कहा जा सतता था। इसलिए गंगा नदी पर लगभग 275 किलोमीटर ऊपर की ओर फरक्का बाँध का निर्माण करके, नीचे के हुगली जलमार्ग में अटी हुई मिट्टी के स्थान पर प्रर्याप्त मात्रा में जल आपूर्ति करना ही इस समस्या का संभव स्थायी हल है। कलकत्ता के दक्षिण में हुगली के निचले भाग में,

हल्दिया जलपोताश्रय का निर्माण, कलकत्ता जलपोताश्रय पर मालवाहक जलयानों के भारी कार्य भार को कम करने की दिशा में एक अन्य महत्वपूर्ण कदम है।

बम्बई-पुणे औद्योगिक प्रदेश की उत्पत्ति भी भारत में अंग्रेजी शासन के कारण सन् 1774 ई० में उस समय हुई, जब 'बम्बई जलपोताश्रय' को बनाने के लिए इस द्वीप को अधिकार में लेकर विकसित किया गया। बम्बई तथा थाना के मध्य 32 कि० मी० के, भारत के सबसे पहले रेल मार्ग के निर्माण, बम्बई से पुणे और नासिक के लिए क्रमश: भोर तथा थाल घाट के मार्गों के खुलने तथा सन् 1843 से स्वेज नहर से होकर जलयानों के आने से बम्बई के विकास को बहुत अधिक बढ़ावा मिला है।

इस औद्योगिक प्रदेश का विकास, पूर्ण रूप से भारत के सूती वस्त्र उद्योग के विकास से संबद्ध है। कोयला उत्पादक क्षेत्रों से इसकी बहुत अधिक दूरी के कारण पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में जल विद्युत का विकास एक विकल्प के तौर पर किया गया। यहां के पृष्ठ प्रदेश में कपास तथा सस्ती श्रमशक्ति उपलब्ध है। आयात-निर्यात के लिए जलपोताश्रय की सुविधाओं तथा प्रायद्वीपीय पृष्ठ प्रदेश के साथ परिवहन और संचार सुविधाओं ने बम्बई को भारत के सूती वस्त्र उद्योग का एक प्रमुख केन्द्र बना दिया है। विभाजन के बाद के प्रारंभिक काल में पाकिस्तान से आने वाली कपास की आपूर्ति का बन्द हो जाना इस उद्योग के विकास में कुछ समय तक एक बाधा रही। बम्बई जोकि इस औद्योगिक प्रदेश का केन्द्र है, इस समय उद्योगों के विकास के लिए, स्थानाभाव की कठिनाई अनुभव कर रहा है। फिर भी यह भारत का प्रथम श्रेणी का 'निर्माण उद्योग प्रदेश' बनने के लिए 'हुगली प्रदेश' के समान स्तर पर ही पनप रहा है। यहां सूती वस्त्र उद्योग के अतिरिक्त, खनिज-तेल-शोधक, छोटे इंजीनियरी और विभिन्न प्रकार के दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के उद्योग हैं।

देश का आन्तरिक स्थित 'अहमदाबाद-बड़ोदा औद्योगिक प्रदेश' गुजरात के मैदानों के 'कपास उत्पादक क्षेत्रों' के समरूप है। बम्बई उत्पादन क्षेत्र का दुगना भाड़ा-खर्च देने की असुविधा है। प्रथम, कच्चे माल (कपास) को प्रायद्वीपीय पृष्ठ प्रदेश से कारखानों तक लाने में तथा दूसरी बार तैयार माल को देश के आन्तरिक भागों में स्थित खपत के स्थानों तक भेजने के लिए। किन्तु अहमदाबाद, कच्चेमाल के उत्पादक क्षेत्रों तथा गंगा-सतलुज के मैदानों में स्थित बाजार-केन्द्रों के समीप है। यहां सस्ते मूल्य पर भूमि, सस्ते दक्ष श्रमिकों तथा अन्य उपलब्ध सुविधाओं ने सूती वस्त्र उद्योग के विकास में योग दिया है। देश का यह तीसरा प्रमुख औद्योगिक प्रदेश, जिसमें मुख्यतया सूती-वस्त्र उद्योग स्थापित है, बहुत तीव्र गति से विस्तारित होने के कारण अधिकाधिक संख्या में श्रमिकों को रोजगार प्रदान करता है।

खम्बात क्षेत्र में खनिज तेल की खोज तथा उत्पादन और बड़ोदा के समीप अंकेलेश्वर के आस-पास पेट्रो-रासायन उद्योगों के संकुलों की स्थापना लगभग पूर्ण हो गयी है। गुजरात के सागरीय तट पर स्थित नए महत्वपूर्ण कांधला जलपोताश्रय ने भारत के इस भाग का बहुत तीव्रता से औद्योगिकरण किया है। देश के इस प्रदेश की भविष्य में और अधिक महता प्राप्त कर लेने की संभावना है।

मदुराई-कोयम्बटूर-बंगलौर औद्योगिक प्रदेश एक कपास उत्पादक भू-भाग है और इसमें सूती-वस्त्र उद्योग की प्रधानता है। इस प्रदेश के लिए उपलब्ध सस्ती जल-विद्युत, सस्ते दक्ष श्रमिकों तथा विस्तृत स्थानीय बाजारों से समीपता और उत्तम जलवायु ने, यहां उद्योगों के केन्द्रियकरण में सहायता दी है। कोयम्बटूर का उद्योगिक विकास, पैकारा से प्राप्त जल विद्युत शक्ति, स्थानीय, कपास, कॉफी की मिलों, चमड़े के कारखानों, तेल की मिलों तथा सीमेंट के कारखानों के कारण बहुत तीव्रता से हुआ है। बंगलौर में 'हिन्दुस्तान वायुयान निर्माण केन्द्र', 'हिन्दुस्तान मशीन टूल्स', 'भारतीय दूरभाष उद्योग' तथा 'भारत विद्युत उपकरण केन्द्र' इत्यादि संस्थानों सहित एक औद्योगिक संकुल के बन जाने से इस प्रदेश में उद्योगों की वृद्धि को और अधिक बढ़ावा मिला है।

छोटा नागपुर पठार के औद्योगिक प्रदेश का जन्म तथा विकास, दामोदर घाटी में कोयले तथा बिहार-उड़ीसा की खनिज पेटी में लौह-अयस्क की खोज से सम्बद्ध है। और क्योंकि ये दोनों ही खनिज पास-पास उपलब्ध हैं, इसलिए यहां काफी संख्या में प्रमुख 'लोहा तथा इस्पात के कारखानों' की स्थापना होने से यह प्रदेश 'भारत का शहर' प्रदेश बन गया है। कच्चेमाल के रूप में लोहे तथा इस्पात पर आधारित बहुत अधिक संख्या में सम-वर्गी इंजिनियरी सामान बनाने के कारखाने, 'इस्तपात नगरों' के चारों ओर स्थापित हो गए हैं। कलकत्ता जलपोताश्रय की समीपता ने इस प्रदेश की बढ़ती हुई औद्योगिक आवश्यकताओं को हल कर दिया है। इस प्रदेश को दामोदर घाटी परियोजना के जलविद्युत और कोयला क्षेत्रों के तापीय विद्युत केन्द्रों के विकास से भी इस दिशा में सहायता प्राप्त हुई है। अत: आने वाले वर्षों में यह क्षेत्र और अधिक तीव्र गति से विकासन्मुख होगा। इसमें जमशेदपुर, रांची, हज़ारी बाग, चितरंजन, सिन्द्री, बोकारो और दुर्गापुर इत्यादि जैसे और औद्योगिक केन्द्र हैं।

हुगली पेटी का औद्योगिक प्रदेश तो बहुत अधिक उद्योगों की स्थापना हो जाने के कारण अपनी संतृप्ति की अवस्था में पहुंच गया है। बहुत अधिक संख्या में सहायक तत्वों ने—जिनका लाभ यह प्रदेश उठा रहा है, औद्योगिक वृद्धि के प्रादेशिक संतुलन का झुकाव अब इस क्षेत्र की ओर कर दिया है। निस्संदेह छोटा नागपुर प्रदेश, कई एक सहायक तत्वों की अनुकूलता के कारण बहुत उज्जवल भविष्य वाला संभावित उद्योगिक प्रदेश है।

सारांश यह कि दो पूर्वी प्रदेशों को छोड़ कर जिन्होंने जूट तथा खनन उद्योगों में विशिष्टता प्राप्त की है अन्य सभी प्रदेशों में सूती-वस्त्र-उद्योग की विशिष्टता है और इंजिनियरी उद्योग दूसरे स्थान पर आता है। पांचों प्रमुख औद्योगिक प्रदेशों में से सभी अब ऐसी स्थिति में पहुंच गये हैं, जहां से ये अपने-अपने उत्पादन में प्रदेशीय विशिष्टीकरण प्राप्त करने की ओर बड़ी तीव्रता से बढ़ रहे हैं। अहमदाबाद-बड़ौदा प्रदेश में कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या का 3/4 से अधिक भाग सूती-वस्त्र उद्योग में लगा है, जबकि बम्बई-पुणे प्रदेश में समस्त श्रमिकों का 47% और दक्षिणी प्रदेश में 56.6% निर्माण उद्योगों में लगे हैं। छोटा नागपुर प्रदेश में श्रमिक शक्ति का सबसे अधिक अनुपात (47%) खनन तथा धातु उद्योग में कार्यरत है तथा 19% इंजिनियरी उद्योगों में है। व्यवसायिक अनुपात की दृष्टि से आरंभिक पूर्वी प्रदेश में 27%, बम्बई-पुणे में 19.4%, दक्षिणी पेटी में 15%, तथा अहमदाबाद-बड़ौदा औद्योगिक प्रदेश में केवल 4.8% श्रमिक, इंजिनियरी उद्योगों में लगे है। बम्बई का औद्यो-गिक केन्द्रिकरण एक विशिष्ट ही प्रकार का है जिसमें कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की सबसे अधिक अर्थात 24.5% श्रमिक संख्या विविध प्रकार के बहुमुखी उद्योगों में काम करती है।

औद्योगिक स्वावलम्बन

साधारण तौर से इस बात पर सर्वदा जोर दिया जाता है कि आर्थिक स्वावलम्बन के बिना हमारी राजनैतिक स्वतंत्रता अपूर्ण है। अर्थशास्त्रियों के मातानुसार, जनसंख्या वृद्धि की उच्च दर के साथ-साथ हमको राष्ट्रीय आय की भी उच्च स्तर प्राप्त करनी चाहिए। यह हमारी प्राकृतिक संप-दाओं का और अधिक उपयोग करके तथा अपनी संपदा क्षमताओं से नई सम्पत्ति प्राप्त करके ही हो सकता है। बहुत प्राचीन समय से ही हमारे जन समुदाय का बहुत बड़ा भाग केवल कृषी संपदाओं पर ही मुख्य रूप से जीवनयापन करता रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि खाद्यान्नों और बहुत से औद्योगिक कच्चेमाल में आत्म निर्भरता भारतीय कृषि के उत्थान से सम्बद्ध हैं। किन्तु विस्तृत नियोजना के लिए, उद्योगों, शक्ति संपदाओं और परिवहन सुविधाओं में विकास की योजनाएं भी बनानी पड़ेंगी। व्यापक गरीबी की समस्या को लेकर इसका समाधान खोजा जा सकता है, और देश की सम्पत्ति बढ़ा कर तथा पर्याप्त मात्रा में लोगों को रोजगार के अवसर प्रदान करके लोगों

तालिका-II

समस्त कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की अनुपातिक प्रादेशीय विशिष्टता (कुल श्रमिकों के प्रतिशत में)

औद्योगिक प्रदेश	खाद्य	सूती	रासायन	इंजिनियरी	खनन और धातु	जूट	बहुमुखी
1. हुगली पेटी	3.9	8.3	4.0	27.1	1.3	40.1	15.3
2. बम्बई-पुणे	7.3	41.4	5.4	19.4	2.0	—	24.5
3. अहमदाबाद-बड़ौदा	3.0	76.1	3.4	4.8	0.4	—	12.3
4. मदुराई-कोयम्बटूर बंगलोर	10.4	56.6	5.1	15.7	1.2	—	11.0
5. छोटा नागपुर पठार	10.1	1.5	7.0	19.1	46.9	—	15.4

मुख्य तथा लघु दोनों ही प्रकार के औद्योगिक प्रदेशों का सारांश परिशिष्ट III में दिया गया है।

का साधारण रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जा सकता है।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, साधारण आर्थिक स्तर बहुत कम था, और लोगों के शोषित वर्गों तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में बहुत अधिक गरीबी थी। प्रादेशिक आर्थिक दशा या तो पिछड़ी हुई थी या दूसरे क्षेत्रों पर आश्रित अथवा पूर्णतया शिथिल। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं ने, हमारे संपदा के आधारों की प्राप्ति और आर्थिक स्थितियों के बहुमुखी विकास के लिए मूलरूप से सेवाएं प्रदान करने को, अपना लक्ष्य बनाया। इससे पूर्व, हम बहुदा अनेक प्रकार की औद्योगिक मशीनों तथा उनके विभिन्न कल-पूर्जों के लिए आयात पर निर्भर रहते थे।

इस अध्याय के समस्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब हमने अपने ही देश में भारी उद्योगों की आधार-शिला रख दी है। हम विकासशील भारत की ज्ञात तथा संभावित संपदाओं के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार की मशीनों का निर्माण करने में समर्थ हैं। भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के सस्थानों ने बहुत शक्तिशाली साधनों के रूप में कार्य किया है, यद्यपि इनकी संख्या बढ़ाने के सरकार के प्रयास बहुत धीमे रहे हैं। अब हम युद्ध अथवा शान्ति काल दोनों के लिए केवल निजी औद्योगिक आवश्यकताओं की ही आपूर्ति नहीं कर रहे, अपितु हमारी पंचवर्षीय योजनाओं ने देश के समस्त विद्यमान आर्थिक ढांचे में भी कुछ परिवर्तन ला दिया है।

'औद्योगिक आत्म-विश्वास' की नीति का तात्पर्य, धन, मशीनों तथा कुशल कार्यकर्ताओं के रूप में प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता को धीरे-धीरे कम करने से भी है। हमने विकसित देशों की सहायता से बहुत सी योजनाओं को विशेषकर लोहा तथा इस्पात उद्योग, खनिजों तथा खनिज-तेल की खोज तथा शक्ति संपदाओं के विकास के क्षेत्रों में कार्यान्वित किया है। साथ ही इस समय एक प्रकार की प्रचलित प्रवृत्ति, निर्मित तैयार माल के निर्यात करने की और एशिया तथा अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों को अपने भारतीय दक्ष कारीगर भेजने की भी है। हमें अभी इससे भी अधिक लाभदायक ठोस उपलब्धियां प्राप्त करनी हैं।

स्वाध्याय

1. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर दो :
   (i) उपभोक्ता उद्योग क्या हैं ?
   (ii) भारी उद्योग किसको कहते हैं ?
   (iii) उद्योगों का वर्गीकरण किन विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है ?
   (iv) भारत के पांच 'लोहा तथा इस्पात' केन्द्र वाले नगरों के नाम बताओ ।
   (v) चल-स्टाक गाड़ियां उद्योग, जलपोत निर्माण, वायुयान निर्माण, उर्वरक, तथा आन्तरिक खानिज तेल शोध केन्द्रों, में से प्रत्येक के एक एक केन्द्र का नाम लीखिये ।
   (vi) किसी उद्योग की स्थापना के लिये कौन कौन से अभौगोलिक सहायक कारक हैं ।
2. उन उद्योगों के नाम बताइये जो निम्नलिखित के समीप स्थापित हैं :
   (i) बाजार
   (ii) कच्चे माल के स्रोत
   (iii) ईंधन शक्ति के साधन,
   (iv) विशिष्ट प्रकार के कुशल श्रमिकों को आपूर्ति के स्थान ।
   इनके स्थानीयकरण के कारकों का परीक्षण भी कीजिये ।
3. भारत में 'औद्योगिक समूहों' के विकास का वर्णन कीजिये । इनका वर्गीकरण करिये और इनके अस्तित्व की पुष्टी कीजिये ।
4. स्पष्ट कीजिये कि किस प्रकार उद्योगों के विकास तथा विविधताओं ने भारत में कृषि के आधुनिकीकरण का विकास किया है ?
5. 'लोहा तथा इस्पात', और 'वस्त्र' उद्योगों के क्षेत्रीय स्वरूपों में आप क्या अन्तर देखते हैं ? अन्तर के मुख्य कारणों का संक्षेप में वर्णन करो । आधारभूत कारणों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए ।

अध्याय—6

भारत में परिवहन व्यवस्था

देश में कृषीय तथा औद्योगिक उत्पादन, कार्यक्षम परिवहन व्यवस्था के विकास से संबंद्ध है। यह कहना उचित होगा कि परिवहन स्वयं उत्पादन की प्रक्रिया का एक चरण है क्योंकि विभिन्न प्रकार के उत्पादों को देश भर में फैले हुए उपभोक्ताओं तक पहुंचाना होता है, जो कि परिवहन के साधनों से ही सम्भव होता है। मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए परिवहन के विभिन्न साधनों का प्रयोग करता है। इस प्रकार विभिन्न स्तरों पर अर्थव्यवस्था तथा मानवीय आवास-स्थलों का विकास मानव तथा पदार्थों की गतिशीलता को बढ़ाता है।

भारत एक विस्तृत देश है जिसमें बहुत अधिक दूरियां हैं और आर्थिक, नृजातीय तथा भौगोलिक स्थितियों में बहुत भिन्नताएँ हैं। दूरस्थ भागों को परिवहन के मार्गों द्वारा मिलाकर ही एक राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा एक राष्ट्र का निर्माण किया जाता है। यह कहने में कोई अतियुक्ति नहीं कि इस नाते एक अच्छी प्रकार से विकसित परिवहन व्यस्वथा हमारी सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भारत की स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए सड़कों, रेलमार्गों, नौव्य जलमार्गों और वायुमार्गों का प्रसार देश की जीती-जागती जीवन रेखाएं प्रदान करता है।

परिवहन के स्वरूपों की मुख्य विशेषताएं

भारत में रेलमार्गों के जाल का विकास यहां के राजनैतिक, आर्थिक और भौगोलिक तत्वों से प्रभावित हुआ है।

रेलमार्गों के कार्य संचालन के लिए सबसे उपयुक्त स्थितियां उत्तरी भारत में हैं जहां जनसंख्या का घनत्व भी अधिक है। यहां, नदियों पर बहुत-से खर्चीले पुलों के निर्माण के सिवा रेल-यातायात के विकास में कोई और विशेष बाधा नहीं है। फिर भी उत्तरी बिहार और ब्रह्मपुत्र घाटी जैसे विस्तृत कम बाढ़ग्रस्त भू-भागों में रेलमार्गों की सुविधा बहुत है। मानसूनी वर्षा ऋतु में नदियों में विशाल जल राशि इन मैदानों में दूर-दूर तक फैल जाती है और इनके दोनों किनारों पर बसे गांव व शहर एक-दूसरे से तथा देश के अन्य भागों से अलग हो जाते हैं। यह ऐसे हर एक स्थानीय क्षेत्र में देखने को को मिलता है जहां न तो नदियों पर पुल होते हैं और न नावों द्वारा इन्हें पार करना जोखिम रहित होता है।

इसी प्रकार मध्यवर्ती भारत की पहाड़ियों को रेलार्ग कुछ एक स्थानों पर ही या तो सुरंगों द्वारा पार करते हैं या पहाड़ी अंतरालों को चीरते हुए लांघते हैं। हिमालय के

पर्वतीय क्षेत्र का दुर्गम उच्चवच, राजस्थान की मरूस्थलीय दशाएं, उड़ीसा-मध्यप्रदेश के पारस्परिक सीमावर्ती घने बन, और पश्चिमी बंगाल के डेल्टाई दलदल रेलमार्गों के संचालन और विकास में सहायक नहीं रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप रेलमार्ग अधिकतर उन क्षेत्रों में विकसित हुए जो अधिक उपजाऊ हैं, जहां जनसंख्या अधिक है और जहां भौतिक बाधाएं सबसे कम है।

भारत की स्वतंत्रता से पूर्व ब्रिटिश शासन की नीति ने भी रेलमार्गों के स्वरूपों तथा उनकी दिशाओं को प्रभावित किया। इन विदेशी शासकों के सम्मुख अपने साम्राज्य की सुदृढ़ता और विस्तार, के लिए सैनिक दृष्टिकोण प्रधान था। धन संचय और शोषण की उपनिवेशवादी नीति भारतीय अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार थी। इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति के लिए मुख्य पोताश्रय नगरों को देश के आन्तरिक भागों में स्थित बड़े-बड़े प्रदेशीय उत्पादन केन्द्रों से रेलमार्गों द्वारा मिलाया गया जहां इस से पूर्व ग्रामों की फालतू उपज साधारणतः छोटे तथा फिर बड़े एकत्रीकरण के केन्द्रों को जाया करती थी। इसके बाद यह उपज स्थानीय क्षेत्रों के मध्य-स्तरीय तथा उपप्रदेशीय नगरों तक पहुंचती थी और वहां से ही इसे बड़े-बड़े उच्च-स्तरीय व्यापारिक नगरों में ले जाया जाता था। तब रेलमार्ग इस ढंग से बनाए गए कि मध्यस्तरीय केन्द्र प्रायः छूट गए और सामान सीधा इस श्रेणी के सबसे बड़े नगरों तक पहुंचना आरम्भ हो गया। ऐसी परिवहन नीति के कारण पृष्ठ प्रदेशों का समूचा व्यापार इन उच्चस्तरीय केन्द्रों ने हथिया लिया था। पूर्वी भारत के रेलमार्गों का इतिहास इस नीति का ज्वलंत उदाहरण है। वहां रेलमार्गों के विकास के प्रथम पचास वर्षों में, तटवर्ती और आन्तरिक भागों के अन्तिम केन्द्रों को मिलाने वाले मुख्य व्यापारी मार्गों पर स्थित अनेक मध्यम-स्तरीय स्थान महत्वहीन हो गये। इनमें से बहुतों का ह्रास आरम्भ हो गया और केवल कलकत्ता महानगरीय प्रदेश में पड़ने वाले रेलमार्गों के जंक्शन स्थानों का ही विकास होता रहा। आन्तरिक जलपरिवहन की अवहेलना की गई और रेलमार्गों के विकास के साथ तालमेल खाकर इसका सदुपयोग नहीं किया गया।
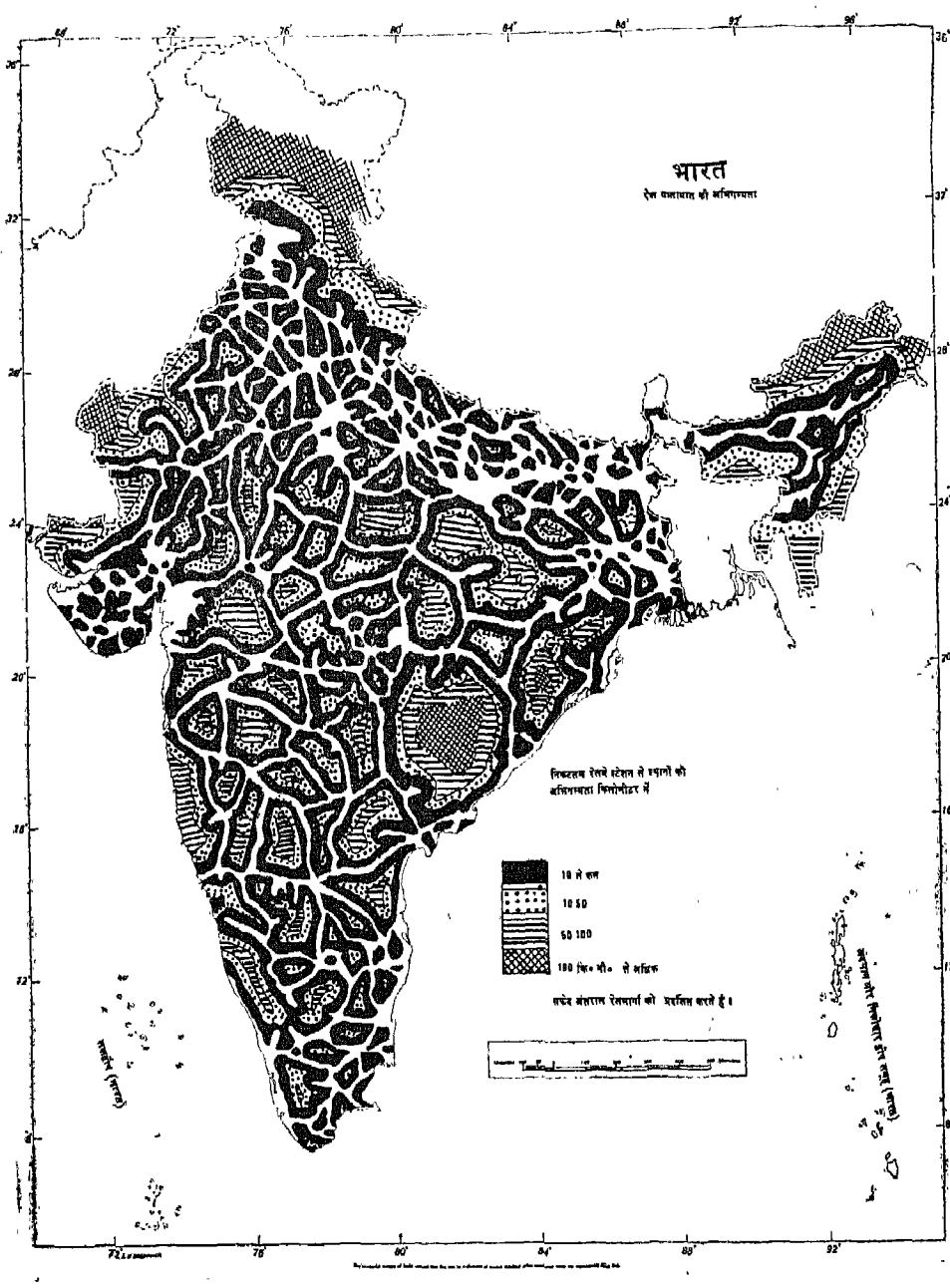
रेलमार्गों के आगमन से पूर्व के प्रचलित कई जलमार्गों पर आधारित व्यापारिक केन्द्रों की समय से पूर्व ही मृत्यु हो गई। इसके साथ ही इन केन्द्रों के समीपवर्ती स्थानीय केन्द्र का आर्थिक विकास भी रुक गया। कुछ ऐसे ही राजनैतिक तथा प्रशासनिक दृष्टिकोण ने बम्बई और त्रिवेंद्रम को मिलाने वाले सीधे पश्चिम तटीय रेलमार्ग के निर्माण को प्रोत्साहित नहीं किया। भारतीय उपमहाद्वीप में अन्य विदेशी शक्तियों द्वारा शासित अन्तः क्षेत्रों की विद्यमानता तथा देश का विभिन्न आकारों के अनेक सामन्ती देशी राज्यों में विभाजन, कुछ दूसरी बाधाएं थीं। इससे सम्पूर्ण देश के लिए एक सुसंगठित परिवहन व्यवस्था के विकास में विलम्ब हुआ।

रेल यातायात के ऐसे असमान वितरण और एकपक्षीय विकास ने दूरगामी क्षेत्रों में रहने वाली बहुत-सी जनजातियों तथा अन्य पिछड़े हुए जन-समुदाओं को व्यवहारिक रूप से देश के अन्य भागों से अलग रखे रखा। सच तो यह कि उपनिवेशीय शासकों ने रेलमार्गों के निर्माण को कभी भी प्रदेशीय आर्थिक विकास में सहायक तत्व के रूप में नहीं समझा। भारत के रेलमार्गों के मानचित्र पर एक दृष्टि डालें तो हमें इनका असमान वितरण तथा दूर के अनधिगम्य क्षेत्रों के विषय में संकेत मिलता है।

रेलमार्गों के दोनों ओर 20 किलोमीटर चौड़े क्षेत्र में रेलों द्वारा सुगमता से पहुंचा जा सकता है। सबसे अधिक अनधिगम्य क्षेत्र समीपस्थ रेलमार्ग से 80 कि० मी० से भी अधिक दूरी पर हैं। ऐसे क्षेत्रों में विरल जनसंख्या वाले पहाड़ी तथा कुछ तटीय भाग सम्मिलित हैं। इससे हमें उन स्थानीय क्षेत्रों का पता चल जाता है जहां इस समय रेलमार्गों के निर्माण की प्राथमिक आवश्यकता है। मानचित्र में भारत की तीन भौतिक इकाइयों के समरूप निम्न तीन प्रकार के स्वरूप दिखाई देते हैं।

(1) हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के केवल

चित्र-28 भारत के कौन से भाग रेलों द्वारा सबसे कम अभिगम्य हैं ? अत्यधिक अभिगम्य क्षेत्र कहां स्थित हैं। इससे तुम क्या निष्कर्ष निकालते हो।

सीमित क्षेत्रों में ही कुछ एक छोटे रेल मार्ग दक्षिण से वहां तक पहुंच पाये हैं। बहुत ऊँचाइयाँ, अधिक उच्चावच, और विरल जनसंख्या जैसे तत्वों ने यहां बड़े पैमाने पर रेलमार्गों के निर्माण में बाधाएँ उपस्थित की हैं। राजस्थान मरुस्थल में अरावली के पश्चिमोत्तर, विशेष करके जोधपुर के पश्चिम में और भी कम रेलमार्ग हैं। आसाम में ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों ओर एक सीमित सी भू-पेटी में केवल दो मुख्य रेलमार्ग एक-दूसरे के समानान्तर चले गए हैं।

(2) उत्तरी भारत के मैदानों में कृषीय अथवा औद्योगिक उत्पादन के स्थानीय क्षेत्रों में रेलमार्गों का जाल बहुत घना है। इन्हीं प्रदेशों में जनसंख्या भी बहुत घनी है। यहाँ बहुत से स्वभाविक कारणों से आर्थिक क्रिया-क्लापों के अनेक केन्द्रों के चारों ओर रेलमार्गो की सघनता स्पष्ट दिखाई देती है।

(3) प्रायद्वीप भारत में पहाड़ी तथा पठारी स्थलकृतियों की विभिन्नता अपेक्षाकृत अधिक है साधारणत: जनसंख्या का वितरण कम अथवा मध्यम-सा है। इन्हीं कारणों से सौराष्ट्र तथा तामिलनाडु के सिवाय रेलमार्गों का जाल अपेक्षाकृत अधिक खुला है।

इन तीन स्वरूपों के अतिरिक्त, देश के विभिन्न विस्तृत भागों से होते हुए मुख्य रेलमार्ग दिल्ली में मिलते हैं अथवा बड़े पोताश्रयों से ये प्रमुख अन्तरक्षेत्रीय केन्द्रों को मिलाते हैं। राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों ही कारणों से मुख्य रेलमार्ग भारत के तीन बड़े पोताश्रयों को पारस्परिक तथा दिल्ली के साथ जोड़ते हैं। उत्तर-पश्चिम में जम्मू, कालका, देहरादून, फिरोजपुर और अमृतसर, भारत के पश्चिम में जोधपुर, बीकानेर तथा कादंला, दक्षिण में त्रिवेंद्रम व मद्रास, पूर्व में गोहाटी (आगे डिब्रुगढ़ तक) और पुरी तक दिल्ली से तेज चलने वाली रेलों द्वारा पहुँचा जा सकता है।

रेलों का सबसे अधिक घनत्व और सबसे अधिक यातायात, उपजाऊ गंगा-सतुलुज के मैदान, बम्बई-अहमदाबाद तथा हवड़ा-पटना के औद्योगिक क्षेत्रों और तामिलनाडु के कृषि-औद्योगिक भागों में देखने में आता है।
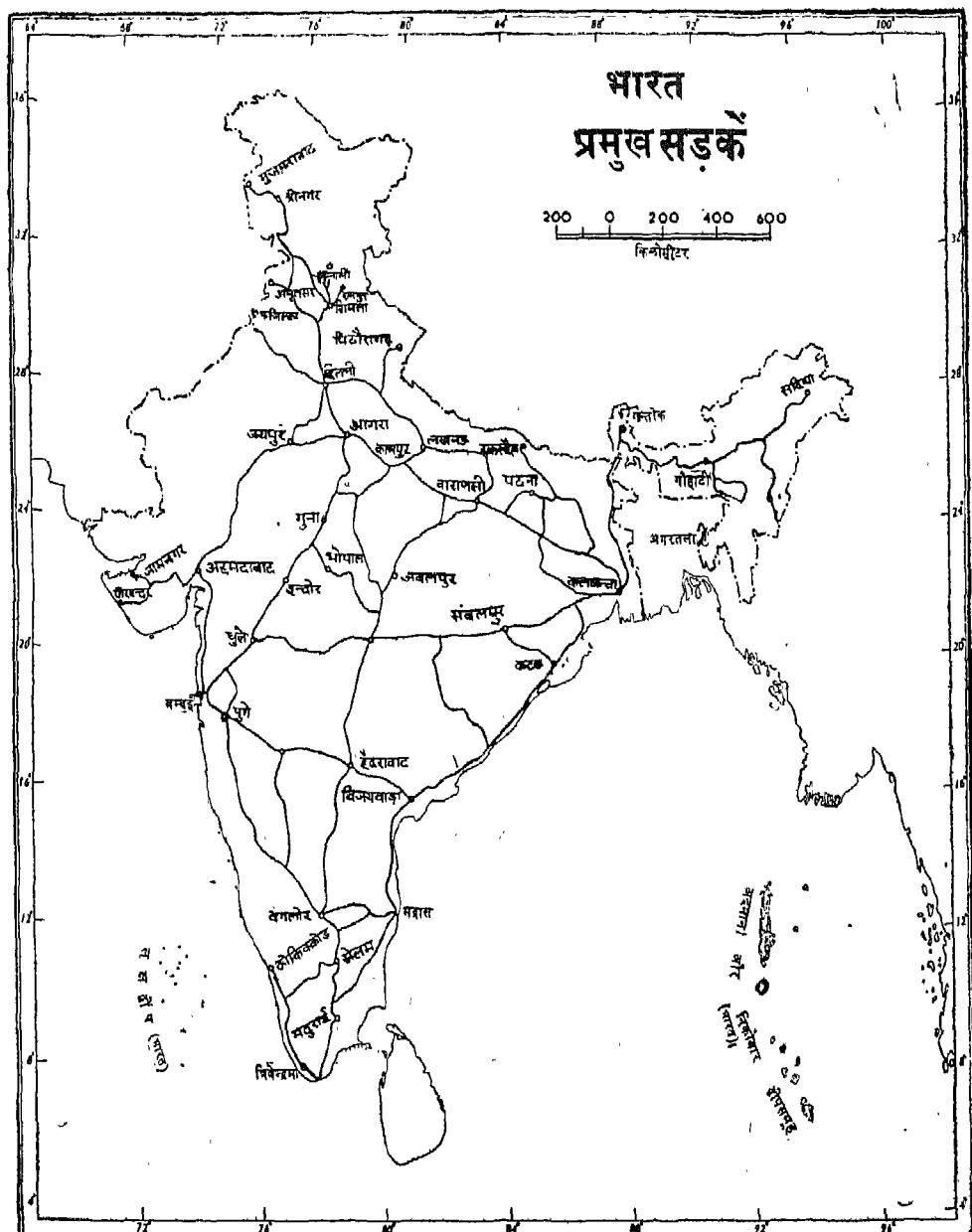
अभी भी हमारे देश के रेलमार्गों में गेज (रेल पटड़ी की चौड़ाई) की विविधता पाई जाती है। व्यापक बड़े गेज के रेलमार्ग (1.69 मीटर चौड़ाई) के अतिखित मीटर गेज (एक मीटर चौड़ाई) की लाइनें भी देश के बहुत-से भागों में हैं देश में यात्रियों तथा सामान का यातायात बहुत भारी मात्रा में बढ़ गया है तथा मीटर गेज लाइनें अधिक समय तक इतने अधिक माल का वहन नहीं कर सकतीं। एक गेज से दूसरे गेज में सामान का स्थानान्तरण करने में बहुत असुविधा और खर्च का सामना करना पड़ता है। सामान उतारना तथा फिर से चढ़ाना विलम्ब का कारण बन जाता है। विशेषकर निर्यात-माल की अधिकता की ऋतु में, दुर्भिक्ष तथा भारी सशस्त्र सेना के आवागमन में, यात्री और माल वहन में बहुत समय लग जाता है। ये रेलमार्ग आरम्भ में छोटे रेलमार्गों के रूप में सीमित लक्ष्य पूर्ति के लिए बनाए गए थे। संकरी गेज वाले रेलमार्ग (0.77 मीटर चौड़ाई) कुछ पहाड़ी भागों तक ही सीमित हैं। ये थोड़ी दूरियों तक स्थानीय संपदाओं के विकास में तथा प्रशासकीय उद्देश्यों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

सड़कें

मुख्य वर्तमान सड़कें पुरानी मुगलकालीन सड़कों तथा अन्य पुराने मार्गों के आधार पर ही विकसित हुई हैं। भूत काल में मुख्य सड़क मार्गों के विकास की नीति रेल विकास नीति से सर्वदा भिन्न रही। सड़कें दिल्ली-आगरा तथा इलाहाबाद, नागपुर और कोयम्बेटूर जैसे अन्तिरक केन्द्रों को तटीय स्थानों से मिलाती हैं।

मुख्य सड़कें राष्ट्रीय राज्यमार्गों (कुल लंबाई 28870 कि० मी०) के नाम से जानी जाती हैं। इनका निर्माण तथा इनकी सुरक्षा भारत की केन्द्रीय सरकार देशव्यापी पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण के मिलाने वाली जीवनवाहनी रेखाओं के

Based upon Survey of India map with the permission of the Surveyor General of India.

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

चित्र-29 उत्तर तथा दक्षिण भारत के अधिकतर भागों में सड़कों के घनत्व पर ध्यान दो। ऐसा क्यों है ? अन्तर्देशीय मार्गों को खोजो।

रूप में करती है। इनके अतिरिक्त राज्य सरकारों के प्राधिकरण में राजकीय सड़क मार्ग हैं जो मुख्यत: राज्यों की राजधानी को वहां के अन्य नगरों से मिलाते हैं। सड़क यातायात के यह दो मुख्य मार्ग तथा जिला स्तर के शहरों से आन्तरिक ग्रामीण क्षेत्रों को जाने वाली सड़कें हमारी परिवहन व्यवस्था का अविभाज्य अंग हैं। साधारणतया सड़क जितने निम्न प्रशासकीय स्तर की होती हैं, उतनी ही खराब स्थिति ऐसे उप-सड़क मार्गों की देखने में आती है।

प्रति 100 वर्ग किलोमीटर के लिए सड़कों का सबसे अधिक घनत्व उत्तर में गंगा के मैदानी प्रदेश में है, जो कि पश्चिम में पंजाब तक फैला है। दक्षिण में तामिलनाडु के अधिकतर भागों में, जो कि पश्चिम की ओर कर्नाटक के पठार से होते हुए पश्चिमी तट तक गए हैं, सड़कों की भारी सघनता है। उत्तरी खण्ड की अपेक्षा खण्ड में सड़क यातायात का अधिक उपयोगी साधन सिद्ध हुई है।

दक्षिण में सड़कों की सघनता वाला क्षेत्र लगातार विस्तृत है जबकि उत्तरी भारत में ऐसे क्षेत्र एक दूसरे से पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं परन्तु सड़कों का सामान्य घनत्व समस्त गंगा-पंजाब के मैदानों, प्रायद्वीपीय भारत के आन्तरिक भागों तथा तटों से कुछ दूर अन्दर तक मिलता है।

हिमालय के पर्वतीय भाग तथा पश्चिमी मरुस्थलीय प्रदेश में सड़कें तो बहुत कम हैं किन्तु यहाँ एक सामरिक महत्व का राष्ट्रीय राजमार्ग दिल्ली से चंडीगढ़ होता हुआ, हिमाचल प्रदेश के ऊँचे पर्वतीय भागों को पार करते हुए शिमला के उत्तर में भारत-चीन सीमा पर स्थित 'शिपकी-ला' दर्रे से मिलाता है। एक अन्य, महत्वपूर्ण सड़क पश्चिमी हिमालय में 4875-5485 मीटर की ऊँचाई पर, ऊँचे दर्रों को पार करती हुई औसत रूप से औसत समुद्रतल से 4270 मीटर ऊँचाई पर चण्डीगढ़ से मनाली तथा आगे लद्दाख में लेह तक जाती है।

हमारी महत्वपूर्ण सड़कों में से कुछ प्रमुख सड़कें कलकत्ता से अमृतसर तथा श्रीनगर (कश्मीर), कलकत्ता से मद्रास तथा बम्बई, और बम्बई से आगरा होती हुई दिल्ली को परस्पर मिलाती है। ऐसी ही उत्तम सड़कों द्वारा अभी आसाम राजस्थान और काठियावाड़ के दूरस्थ भागों को मिलाना बाकी है। (चित्र 29)

आंतरिक जल मार्ग

गोदावरी, कृष्णा, कावेरी और महानदी नदियों के निचले प्रवाह, आंध्र प्रदेश और तामिलनाडु की बकिन्घम नहर, और केरल के पश्च जलीय मार्ग हमारे देश के कुछ प्रमुख नाव्य जलमार्ग हैं। ब्रह्मपुत्र तथा गंगा नदी-प्रणाली हमारे जल-यातायात का सबसे बड़ा भाग है। गंगा में शक्ति चालित छोटे जहाज कलकत्ता से पटना तक चल सकते हैं, तथा साधारण नावें ऊपर हरिद्वार तक चल सकती हैं। ब्रह्मपुत्र नदी में समुद्र से 1290 किलोमीटर ऊपर, बंगला देश से होते हुए आसाम में डिब्रूगढ़ तक नौकाओं द्वारा जाया जा सकता है।
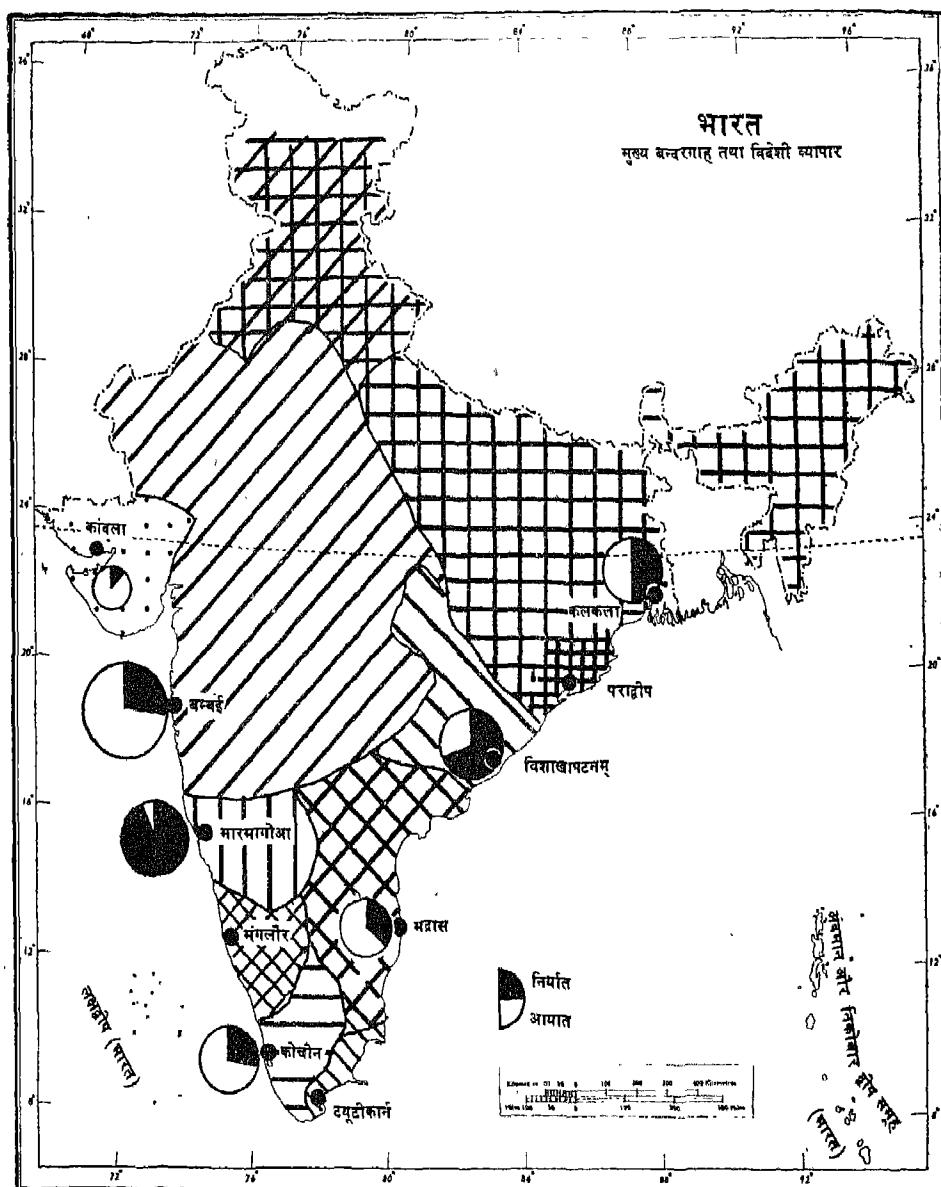
यद्यपि हमारे देश की नदियों के मुहानों पर रेत के जमाव तथा छिछले डेल्टा का निर्माण, इनमें बड़े-बड़े वाष्प चालित जलयानों के संचालन में बाधक हैं, फिर भी पूर्व की ओर बहने वाली नदियों के निचले भागों में, साल भर, अधिक गहरा जल रहने से नावें इत्यादि चल सकती हैं। अधिकतर नदियों में शुष्क-ऋतु में पानी की कम मात्रा और इनके पेंदे पर अवसादी जमावों के कारण पानी की कम गहराई तथा अवरुद्ध बहाव, इसकी लावण्यता अर्थात अधिकतर जल राशि का नहरी सिंचाई के लिए उपयोग आदि कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिनसे हमारे यहाँ नाव्य जल मार्ग बहुत कम हैं।

पोताश्रय

मानचित्र (चित्र 30) पर एक दृष्टि डालें तो हमें हमारी तटरेखा पर स्थित जलपोताश्रयों का वितरण स्पष्ट हो जाता है।

पोताश्रय, एक आंशिक रूप से घिरा ऐसा क्षेत्र है जो जलयानों को आश्रय प्रदान करता है। इसमें संकरी खाड़ी ज्वार नदमुख, अथवा मुख्य

मानचित्र-30

चित्र-30 हमारे प्रमुख निर्यातक पत्तनों पर ध्यान दो और उन कारणों का पता लगाओ जिससे ये इतने महत्वपूर्ण बन गए है। भारत के किन भागों में हमारे पतनों के पृष्ठ प्रदेश अपेक्षाकृत छोटे हैं या अधिक प्रतिस्पर्धा है ?

थलमार्ग में गया सागरीय जल का संकरा भाग सभी सम्मलित हैं : एक मुख्य पत्तन में अच्छा पोताश्रय बनने की सभी विशेषताओं के अतिरिक्त गोदियाँ, जलयान-घाट और जलयानों तथा उनका माल उतारने चढ़ाने के लिये अन्य आवश्यक सुविधायें भी होती हैं। खूब कटे-फटे सागरीय तटों पर अच्छे प्राकृतिक पोताश्रय होते हैं भारत का पश्चिमी तट एक निक्षेप रहित, उत्तम सुरक्षित स्थितियाँ, खुली तथा गहरी सागरीय भुजा के शीर्षों पर ऐसे पोताश्रयों के लिए स्थान प्रदान करता है। इस प्रकार की आंतरीक सागरीय भुजा अथवा पश्च-जल खाड़ी यदि मुख्य स्थल खंड में दूर तक प्रवेश करती हो तो इससे जलयानों को खुले सागरीय घाट से दूर अन्दर तक माल ले जाने के लिए सस्ता जल परिवहन प्राप्त हो जाता है।

मद्रास जैसे कृत्रिम पोताश्रय, अपेक्षाकृत सीधी तट रेखा के साथ तूफानी सागर के थपेड़ों को रोकने के लिये खुदाई करके तथा दीवारों का निर्माण करके मानव द्वारा बनाये गये हैं। बहुत से प्राकृतिक बन्दरगाह ऐसे हैं जो तब तक पोताश्रय नहीं बन पाते जब तक इनके पृष्ठ भाग उपजाऊ न हों, इनसे अच्छी प्रकार मिला न दिये जायें तथा वहाँ माल-वाहक और अन्य जलयानों के लिए आवश्यक सुविधायें जुटा न दी गई हों।

उपरोक्त विशेषतायें हमें भारतीय जलपोतश्रयों के वितरण तथा इनके प्रकार को समझने के लिये सहायक होंगी। हमारे पश्चिमी तट पर प्राकृतिक, सुरक्षित तथा प्रत्येक ऋतु में कार्यरत पोताश्रय अधिक हैं। उदाहरणास्वरूप बम्बई, कांधला मारमागाओ, मंगलौर कोचीन इसी प्रकार के पोताश्रय हैं।

सन् 1869 से स्वेज नहर के कम दूरी वाले समुद्र मार्ग के सामने पड़ने वाले बम्बई पत्तन का एक आरम्भिक जलपोताश्रय के रूप में विकास कई एतिहासिक कारणों से हुआ है। कलकत्ता से भिन्न बम्बई को अब पश्चिमी तट पर विकासोन-मुख्य कई छोटे पोताश्रयों को प्रतिस्पर्धा का सामना है। बम्बई तथा कांधला को छोड़कर, पश्चिम तटीय अन्य कई पतनों के पृष्ठ प्रदेशों का विकास, पश्चिमी घाट की पहाड़ियों तथा इनमें से होकर मिलाने वाले सुलभमार्गों के अभाव में बहुत देर तक रुका रहा है। मंगलौर इस बात की पुष्टि करता है।

कच्छ की खाड़ी के पूर्वी शीर्ष पर कांधला का नवीन पोताश्रय भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के उपरांत कराची का स्थान ग्रहण करने के लिए बनाया गया था। अब इसके द्वारा पहले से अधिक माल यहां से आने जाने लगा है। तटीय पट्टी की अर्थव्यवस्था के विकास में मारमागांओ तथा मंगलौर (कर्नाटक) के प्राकृतिक पतनों को मुख्यता प्रदान करना, एक महत्वपूर्ण चरण है। केरल तट पर स्थित: कोचीन का एक अन्य उत्तम प्राकृतिक पत्तन अब पूर्वी तटीय मद्रास का मुकाबला करने लगा है। अरब सागर के एक सुरक्षित पश्च जल पर मलाबार तट पर इसकी स्थिति नौसेना के युद्धक जलपोतों के आश्रय स्थल, उनकी मरम्मत तथा निर्माण के लिए अत्यंत सामरिक महत्व की है।

भारत के पूर्वी तट पर तूतीकोरन, मद्रास, विशाखापट्टनम्, पेरादीप तथा कलकत्ता मुख्य पोता-श्रय हैं। ये सब खुले, गहरे ज्वारनदमुख के बजाय अवसादी निक्षेपों की गाद से पटे नदियों के डल्टाई मुहानों के निकट स्थित हैं। तामिलनाडु तट पर तूतीकोरन के नवीनतम पत्तन को अब एक मुख्य पत्तन बनाने का निर्णय हो चुका है। मद्रास एक महत्वपूर्ण परन्तु कृत्रिम पोताश्रय है जोकि अक्टूबर नवम्बर के महीनों में आने वाले चक्रवाते के कारण, इस ऋतु में तो जलयानों के प्रवेश के लिए कतिपय उपयोगी नहीं रहता। तट के पास पानी की कम गहराई के कारण वैसे भी बहुत बड़े-बड़े जलपोत यहां नहीं पहुँच पाते अत: बहुत से छोटे पत्तन भी इसके सफल प्रतिद्वन्द्वी हो रहे हैं। विसाखापट्टनम् की कुछ आँतरिक तथा सुरक्षित स्थिति को सुधारा गया है। यहां के समीपवर्ती क्षेत्र से भी लोहा अयस्क का निर्यात किया जाता है। यहाँ पर समुद्री जलयानों के

निर्माण तथा उनकी मरम्मत का कार्य होता है। कलकत्ता तथा मद्रास के बीच उड़ीसा तट पर पेरादीप के बन्दरगाह का वर्तमान विकास एक मुख्य पोताश्रय के रूप में, कलकत्ता का अधिकतम कार्यभार कम करने तथा इस क्षेत्र से लोहा इत्यादि खनिज निर्यात के लिए किया गया है। कलकत्ता, बंगाल की खाड़ी से अन्दर की ओर कोई 129 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इसको हुगली में भारी मात्रा में जमा होती गंद तथा इसमें निरन्तर बनने वाली ज्वार भित्तियों जैसी बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कलकत्ता स्वेज नहर के पूर्व में आस्ट्रेलिया और सिंगापुर के सामने पड़ने वाला भारत का सबसे बड़ा पोतश्रय है। यह एक विस्तृत पृष्ठ प्रदेश की सेवा करता है। इसलिए यहाँ वाहनों तथा यानों की भीड़ एक बहुत बड़ी समस्या बन गई है। कलकत्ता से 105 किलोमीटर दक्षिण को हुगली नदी पर हलदिया नाम की एक और बन्दरगाह का चयन शोधन केन्द्र बनाने तथा कलकत्ता की व्यस्तता को बाँट लेने के लिए किया गया है।

हवाई मार्ग :

हवाई परिवहन, आधुनिक परिवहन साधनों में सबसे तीव्र गामी साधन है। भारत में भौगोलिक दूरियों की अधिकता तथा दक्षिणी एशिया में पूर्व तथा पश्चिम के मध्य, संगम स्थान पर इसकी स्थिति के कारण यहां की परिवहन व्यवस्था में, वायु सेवा ने केन्द्रीय महत्व का स्थान प्राप्त कर लिया है। योरोप से सुदूर-पूर्व तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया को मिलाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय वायुमार्ग भारत के ऊपर से जाते हैं। भारत के प्रमुख वायु पत्तन—दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास देश के वायु-परिवहन के केन्द्रीय बिन्दु हैं तथा ये सभी देश के अन्य भागों से स्थानीय सेवाओं द्वारा संबद्ध हैं। मानचित्र पर इनको मिलाने से एक चार-भुजाओं वाली आकृति बन जाती है। काहिरा, लन्दन, बैरूत मास्को, बैंकांक, टोक्यो, सिंगापुर और सिडनी को मिलाने वाले सभी अन्तर्राष्ट्रीय वायुमार्ग इस चित्र की भुजाओं के साथ-साथ जाते हैं। बहुत से सहायक वायुमार्ग इन प्रधान वायुमार्गों से भारत के दूर स्थित भागों को मिलाते हैं। अब समस्त पड़ोसी देशों की राजधानियों तक पहुँचने के लिये यथेष्ट उड़ानों का प्रबन्ध किया गया है।

परिवहन व्यवस्था का विकास

हमारे देश में 19वीं शताब्दी के प्रथम अर्ध तक, हर मौसम में काम आने वाली तथा अच्छी प्रकार विकसित सड़कें बहुत कम थीं। तब सड़कें प्राय: सैन्य गतिविधियों के लिये उपयोग में लाई जाती थीं। देश में अन्तरिक व्यापार बहुत कम था और विकसित यातायात के साधनों के अभाव में दुर्भिक्ष पीड़ित क्षेत्रों के लिये खाद्यन्न शीघ्रता से नहीं भेजे जा सकते थे। यदि किसी क्षेत्र में अच्छी फसल के कारण खाद्य सामग्री की बहुलता भी होती थी, तो भी इसको अन्यत्र भेजना सम्भव नहीं था। अभाव के समय में इसको ऐसे स्थानों तक ले जाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था।

स्वतंत्र भारत में, प्रथम पंचवर्षीय योजना काल के आरम्भ से परिवहन के विकास को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई है। किन्तु एक 20-वर्षीय सड़क विकास योजना सन् 1961-1981 तक के काल के लिये, तीसरी योजना के काल में ही बन सकी। यह लक्ष्य निर्धारित किया गया कि विकसित तथा कृषीय क्षेत्रों में कोई भी गाँव पक्की सड़क से 6 किलोमीटर तथा किसी भी प्रकार की सड़क से 2.5 किलोमीटर से अधिक दूरी पर नहीं रहना चाहिए। अर्ध विकसित तथा अविकसित क्षेत्रों की आवश्यकताओं तथा समस्ययाओं के अनु-सार उचित लक्ष्य भी निर्धारित किये गये।

इस दीर्घ-कालीन योजना की पूर्ति पर भारत में प्रति 100 वर्ग किलोमीटर भू-भाग के पीछे 32 किलोमीटर लम्बी सड़क होगी। कोई भी स्थान समीपस्थ महामार्ग से 60 से 96 किलोमीटर से अधिक दूरी पर नहीं होगा। इन उद्देश्यों की प्राप्ति पर भी, भारत में, इसके विस्तार तथा जनसंख्या के अनुपात में, खूब विकसित परिवहन व्यवस्था नही होगी। सभी ऋतुओं में काम आने वाली, वाहनों के यातायात के लिये सड़कों की मुख्य आवश्कताओं में, महा मार्गों पर पुलों का

निर्माण, बहुत अधिक कार्यरत नगरों के समीप सड़कों को चौड़ा करना, तथा इनको अच्छी प्रकार पक्का करना इत्यादि शामिल है।

सड़क निर्माण के साथ-साथ स्वचालित वाहनों का निर्माण भी औद्योगिक, खनन तथा अन्य क्षमताओं वाले पिछड़े हुए क्षेत्रों का आर्थिक विकास करने के लिए किया गया है। सन् 1962 में भारत-चीन सीमा संकट के उपरान्त, देश के सीमन्ति क्षेत्रों में सड़क निर्माण कार्य को बढ़ावा देने के लिये 'सीमा सड़क निर्माण संगठन' की स्थापना की गई। फिर भी देश की 15 लाख किलोमीटर लम्बाई की सड़कों में से अभी तक लगभग एक तिहाई पक्की सड़कें हैं। देश में प्रति 100 वर्ग किलोमीटर भू-भाग के लिये केवल 12.5 किलोमीटर, तथा प्रति दस लाख व्यक्तियों के पीछे 7.4 किलोमीटर पक्की सड़कें हैं।

भारत में सबसे पहली रेलवे लाइन सन् 1853 में बनाई गई थी। यहां रेल मार्ग तीनों प्रमुख जलपोताश्रयों से देश के आन्तरिक भागों की ओर बढ़ते रहे। इनका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी राज्य को संगठित करना तथा कृषीय उत्पादनों को विदेशी व्यापार के लिये बढ़ाना था।

भारतीय रेल मार्गों के जाल का सन् 1930 के पश्चात अधिक विस्तार नहीं हुआ शिथलता की एक लम्बी अवधि के बाद, स्वतंत्र भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत रेल मार्गों का निर्माण अपने क्रियान्वित विकास के काल में प्रविष्ठ हुआ। आर्थिक विकास की गति में वृद्धि कर के युद्ध काल तथा भारत के विभाजन के फलस्वरूप अवरूद्ध मार्गों को पुर्नस्थापित किया गया। सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथा उत्पादन के लिये सम्भावित क्षेत्रों में कुछ नये रेल मार्गों का निर्माण किया गया। पुरानी मीटर-गेज लाइनों को चौड़े गेज की बड़ी लाइनों में बदलने के लिये एक नीति के रूप में निर्णय लिया गया। उत्तर के मैदानों में हावड़ा से कानपुर तक रेलमार्ग का विद्युतिकरण पूर्ण हो गया है। उड़ीसा में राउरकेला से बीरमित्रापुर तक हावड़ा से जमशेदपुर तक भी विद्युतिकरण हो गया है। रेलवे इंजनों तथा माल-वाहन और यात्री गाड़ी के डिब्बों इत्यादि के प्रावधान में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया है और अब इन वस्तुओं का निर्यात विशेषत: एशिया व अफ्रिका के विकास-शील देशों को भी होने लगा है। अधिक कार्यरत क्षेत्रों में दोहरे मार्ग बना कर रेलों की कार्य क्षमता बढ़ाई गई है।

भारत में इस समय समस्त रेलमार्गों की लम्बाई 60,000 किलोमीटर है इस दृष्टि से यह एशिया में सर्व प्रथम तथा संसार में चौथे स्थान की रेलवे व्यवस्था है। सन् 1975 में रेलों में 14 लाख स्थायी कार्यकर्त्ता थे। इसी कारण यह देश के सार्वजनिक क्षेत्र की सब से बड़ी व्यवस्था है। देश में रेलें 70 लाख यात्रियों, 5.5 लाख टन सामान प्रतिदिन ले जाती हैं तथा 12 लाख किलोमीटर से अधिक दूरी प्रति-दिन तय करती हैं। यह देश के समस्त माल-वाहन का 4/5 भाग ढोती हैं। रेलों द्वारा ढोये गये समस्त माल का 85% से अधिक भार कोयला, खनिज अयस्क, खाद्यान, सीमेन्ट तथा खनिज तेल का है। देश में लोगों के लिये खाद्य आपूर्ति और विकास तथा निर्माण कार्य के लिये उत्पादन क्षेत्रों से खपत स्थानों तक इन जरूरी वस्तुओं का परिवहन बहुत आवश्यक है।

प्राशासनिक सुविधा के लिए, अब भारतीय रेलों को 9 प्रशासनिक खण्डों में बांटा गया है जिससे माल ढोने यात्रियों के लाने ले जाने तथा प्रत्येक खण्ड की विशिष्ठ प्रकार की समस्याओं की ठीक से व्यवस्था की ज़ा सके।

हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था में भारी मात्रा के सामान को दूर-दूर के स्थानों तक पहुँचाने के लिये रेल-मार्ग और भी अधिक महत्वपूर्ण बन गये हैं। सड़कें आन्तरिक भागों में जाने के लिये रेलों का पूरक हैं। परन्तु रेलें, देश के मुख्य भू-भागों पर यातायात की बढती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप बहुत बड़ी राष्ट्रीय सेवा कर रही हैं। किन्तु फिर भी देश के आन्तरिक भागों में तथा

तीव्र ढ़ालों वाले पहाड़ी क्षेत्रों में केवल सड़कें ही परिवहन का कार्य कर सकती हैं।

अभी भी हमारी रेलें तथा सड़कें शीघ्र खराब होने वाली, तथा आवश्यक सामान की अविलम्ब ढुलाई के लिए अपर्याप्त तथा अक्षम हैं। यदि *परिवहन औद्योगिकरण तथा आर्थिक विकास का* सूचकांक है, तो रेलमार्गों तथा सड़कों का वितरण हमारे वर्तमान आर्थिक विकास की प्रदेशीय असमानता को प्रतिबिम्बित करता है।

रेलमार्गों के आगमन से पूर्व यातायात के कार्यों में नदियों ने महत्वपूर्ण योग दिया है। देश में केवल 14000 किलोमीटर आन्तरिक जलमार्ग हैं, जिसका केवल पांचवा भाग बड़े वाष्पचालित जलयानों के लिये नाव्य है देश के विस्तार की दृष्टि से, आन्तरिक जलपरिवहन प्रायः नगन्य है।

इस समय दक्षिणी तथा पूर्वी भारत के राज्यों में जहाँ नाव्य जलमार्ग उपलब्ध हैं, नदी तलों को गहरा करने, उन में जमी हुई गाद को बाहर निकालने तथा पिछले जल में चल सकने वाले, उचित प्रकार के जलयानों के प्रयोग को व्यावहारिक रूप दिया जा रहा है हमारे देश की विकासशील अर्थव्यवस्था के कारण बढ़ते हुए भारी माल के परिवहन के बढ़ते दबाव के कारण देश के आन्तरिक जलमार्गों के पुनरुद्धार की आवश्यकता है। भारत के कच्छ व सौराष्ट्र से लेकर उड़ीसा तथा बंगाल तक फैले प्रदेशों में सागर-तटीय जहाजरानी भी महत्वपूर्ण है।

किन्तु वास्तव में महत्वपूर्ण सागरीय तथा महासागरीय जलमार्गों द्वारा ढोये गये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार माल को पोताश्रयों के प्रवेश द्वार ही नियंत्रित करते हैं। भारत के लगभग 6000 किलोमीटर के समुद्र तट पर फैले 10 प्रमुख तथा 167 छोटे और मध्यम स्तर के जलपोताश्रय हैं। एक प्रमुख पोताश्रय में बड़े-बड़े जलपोतों तथा हजारों टन सामान को संभालने की क्षमता तथा सुविधायें होती हैं। छोटा जलपोताश्रय अपने विस्तार तथा कार्य क्षमता में सबसे कम होता है इनसे अभिप्राय सागरीय तट के समीप एक ऐसे प्रकार के पोताश्रय से हैं जहाँ जलयान लंगर डाल सकते हैं तथा जहां कठिनाई से कुछ सौ टन सामान के प्रबंध की क्षमता होती है। इन दोनों श्रेणियों के मध्य, *मध्यम-स्तरीय जलपोताश्रय* आते हैं।

भारत के 10 प्रधान जलपोताश्रयों से प्रतिवर्ष *यहां के कुल व्यापारिक भार का 90 प्रतिशत* से अधिक सामान आयात-निर्यात होता है। इन जलपोताश्रयों की स्थिति तथा भारतीय विदेशी व्यापार में, इनमें से कुछ की कार्यशीलिता, मानचित्र में प्रदर्शित की गई है। (चित्र : 30) नये जलपोताश्रयों की उत्पत्ति में नये रेलमार्गों के निर्माण तथा अन्य अनेक ऐसी स्थापनाओं की आवश्यकता रहती है जो इन्हें अपने पृष्ठ प्रदेशों से मिलाते हैं तथा सामान को लादने और उतारने की सुविधायें प्रदान करते हैं।

आने वाले कुछ वर्षों में भारत अण्डेमान द्वीपों की राजधानी पोर्टब्लेयर में कोचीन के बाद अब एक दूसरा नौसैनिक अड्डा बनाने की स्थिति में है। हमारे मुख्य जलपोताश्रयों में से बहुत सों के समीप जहां भी खनिज तेल शोधक कारखाने हैं, वहां हम ऐसी आशा करते हैं कि ये खनिज तेल के तटवर्ती केन्द्र पेट्रोलियम को जहाज में से उतार कर इसके संसाधन में क्रियारत रहेंगे। भारत के सागरीय तट पर बहुत बड़ी संख्या में अनेक ऐसे मछली पालन हैं जो छोटे स्थानीय महत्व के जलयानों के आश्रय स्थल भी हैं।

हमारा देश बहुत अधिक संख्या में अच्छी प्रकार से विकसित सब ऋतुओं में काम आने वाले जलपोताश्रयों की स्थापना, तथा हमारे विदेशी व्यापार का अधिक भाग प्राप्त करने के लिये जल-परिवहन के और अधिक विस्तार के लिये बहुत प्रयत्नशील है। हमारे व्यापारिक जलयानों में से 75 प्रतिशत से अधिक विदेशी व्यापार में संलग्न हैं, तथा भारत जलयान परिवहन में एशिया में दूसरे स्थान पर और विश्व में सोलहवें स्थान पर है। सन् 1974-75 में हमारे मुख्य जलपोताश्रयों (मंगलोर और तूतीकोरन को छोड़कर) पर उतारा अथवा लादा गया आयात-निर्यात माल 5 करोड़

80 लाख टन था। परन्तु यह संसार के ऐसे समस्त भार का केवल दो प्रतिशत था।

वायु परिवहन के क्षेत्र में, भारत ने विभिन्न प्रकार के पहले से अधिक तेज चलने वाले सैनिक तथा असैनिक कार्यों के लिये वायुयानों का निर्माण कर लिया है। बहुमूल्य विशिष्ट प्रकार के सामान, यात्रियों, तथा सैनिकों की शीघ्रता से लाने ले जाने के लिये, वायुयान के बेड़ों में बड़ी तीव्रता से वृद्धि हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के चार प्रमुख वायुपत्तनों के अतिरिक्त हमारे यहां देश भर में 84 अन्य वायु पत्तन हैं। वायु परिवहन के सन् 1953 में राष्ट्रीय-करण के पश्चात से भारत आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय वायुयान सेवाएं चला रहा है। हमारे असैनिक वायुयानों द्वारा तय की जाने वाली दूरी, सन् 1947 से 1971 के काल में तीन गुणी बढ़ गई है। देश में वायुयान यातायात की उन्नति यहां के आर्थिक विकास, तथा इसके संचालन व्यय के ऊपर निर्भर करेगी।

परिवहन व्यवस्था का संगठनात्मक महत्व

यह बहुत स्पष्ट है कि यातायात के विभिन्न प्रकार के आधुनिक साधनों के विकास तथा इसके संचालन में आपसी समन्वय, देश की राजनैतिक तथा आर्थिक एकता के लिये महत्वपूर्ण साधन है। राष्ट्रीय सड़क तथा रेल महा मार्ग पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित तथा संचालित होते हैं। यह हमारी सम्पूर्ण परिवहन व्यवस्था की जीवन रेखायें हैं। ये एक ओर लेह तथा कन्या-कुमारी और दूसरी ओर सैद्या (आसाम) तथा ओखा (काठियावाड़) तक को मिलाने वाली महत्वपूर्ण कड़ियां हैं।

ये बाधारहित ढंग से खाद्यान्नों तथा विभिन्न प्रकार के निर्मित माल को, इनके उत्पादन क्षेत्रों से अनेकों खपत के स्थानों तक वितरित करते हैं। ये देश के विभिन्न भागों में फैले, औद्योगिक कच्चे-माल, कोयले जैसे खनिज ईंधन, शक्ति के साधन, पेट्रोलियम तथा अन्य खनिज अयस्कों को औद्योगिक संस्थानों के स्थान पर एकत्रित करते हैं। यह हमें खाद्यान्नों तथा औद्योगिक कच्चेमाल के उन सामयिक अभावों की याद दिलाता है जो किसी भी प्रकार से परिवहन व्यवस्था के भंग होने पर देश के विभिन्न भागों से सुनने को मिलते हैं।

भारत जैसे विकासशील देश की आधुनिक अर्थव्यवस्था मुख्यतया देश की परिवहन व्यवस्था के विकास तथा कार्यकुशलता पर निर्भर करती है। इसी कारण दूसरे बड़े महायुद्ध के दिनों से ही शुद्ध खनिज तेल को देश के विभिन्न भागों तक ले जाने के लिए पाइपलाईनों का प्रयोग किया जाता रहा है। सन् 1962 के बाद से कई एक तेल पारिष्करणशालाओं (वर्तमान संख्या 10) की स्थापना निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में बराबर की जाती रही हैं। यह शालाएँ खनिज तेल क्षेत्रों के निकट, प्रमुख पत्तनों तथा आन्तरिक महत्वपूर्ण केन्द्रों में बनाई गई हैं। इर क्षेत्रों को पाइपलाईनों द्वारा मिलाने से सस्ता और सुगम तेल परिवहन साधन उपलब्ध करा दिया गया है। इससे रेलों तथा सड़क मार्गों द्वारा खनिज तेल ढोने का भारी काम कुछ नियंत्रित हो पाया है। यह पाईपलाईनें आसाम तेल क्षेत्रों को गुआटी, बरौनी तथा उससे आगे कानपुर तक माल वाहन का काम देती हैं। गुजरात तेल क्षेत्र की पाईप-लाईनों के अतिरिक्त हल्दीया जलपोताश्रय के शोधक केन्द्र को भी बरौनी की परिष्करणशाला से मिला दिया गया है। सबसे लम्बी 1256 किलो-मीटर पाईपलाईन कच्छ तट से कोहाली और उससे आगे गुजरात में विमग्राम के रास्ते मथुरा के प्रस्तावित तेल शोध केन्द्र तक फैलाई जा रही है। बम्बे हाई के सागरीय तेल व प्राकृतिक गैस क्षेत्र को 207 किलोमीटर लम्बी पाईपलाईन द्वारा बम्बई से 10 कि० मी० दूर अरन नाम के छोटे से मछली पत्तन और उससे आगे ट्राम्बे तक से मिलाया गया है। अतः भारत जैसे विकासशील देश की आर्थिक उन्नति सब प्रकार के सम्भव परिवहन साधनों के विकास और कार्यक्षमता पर आधारित है।

भारतवर्ष में पिछले वर्षों में जो स्थानीय बाजार थे, आज यातायात के साधनों के जाल के कारण, बड़े राष्ट्रीय बाजारों में बदल गये हैं।

जलयान निर्यात के लिये फालतू सामान को ले जाते हैं, और हमारी आवश्यकताओं की वस्तुओं को समुद्रीतटों पर स्थित जलपोताश्रयों के प्रवेश द्वारों से हम आयात करते हैं। मुख्य सड़कों की सहायक शाखाएँ उप रेलमार्ग और आन्तरिक जलमार्ग विभिन्न प्रदेशों की स्थानीय आवश्यकताओं की आपूर्ती करते हैं, तथा इन भागों को देश के आर्थिक महत्व के बाजारों से मिलाते हैं। इस प्रकार देश में आन्तरिक तथा बाह्य यातायात के साधनों के विकास से कृषि का व्यापारिकरण, कच्चेमाल का निर्मित सामान में परिवर्तन, कस्बों तथा नगरों का विकास और मनुष्यों की गतिशीलता एक वास्तविकता बन चुकी है।

यातायात के साधनों की व्यवस्था का विकास स्वयं भी, इस्तपात, रेल के इंजनों, डिब्बों, सड़कों पर चलने वाले वाहनों, जलयानों और वायुयानों जैसे भारी और यान्त्रिकी सामानों के निर्माण में लगे भारी उद्योगों पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, यातायात के साधनों तथा इन पर आधारित उद्योगों का विकास सम्मलित रूप से एक संगठित व्यवस्था बनाते हैं।

सर्वोपरी रूप में, वायु यातायात ने, अन्य तीव्र-गामी साधनों के अभाव में, देश के दूरस्थ भागों तक कम-से-कम समय में पहुंचना सम्भव कर दिया है। हेलीकोप्टर अथवा वायुयान की उड़ानें तथा सेवायें, दूरस्थ ऊँचे हिमालय के निवासियों, राजस्थान के मरुप्रदेश तथा कच्छ के क्षारीय बंजर प्रदेशों के चलवासियों व उत्तरी पूर्वी भारत के घने वनों के निवासियों को राष्ट्रीय एकता का आभास कराती हैं। आधुनिक वायु-युग के संकुचित होते हुए विश्व में, यह हमें हमारे निकट तथा दूर के पड़ोसी देशों के समीप ले आया है।

इन विवरणों की सत्यता को समझने के लिये आइये कुछ वास्तविक उदाहरण प्रस्तुत करें। सन् 1947 में भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के समय, आसाम तथा पश्चिमी बंगाल के मध्य के कुछ बहुत अधिक महत्वपूर्ण जल तथा रेल मार्ग, पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगला देश) के निर्माण के कारण एकाएक विच्छेदित हो गये! इस प्रकार इस पूर्वी प्रदेश में शताब्दियों से विकसित एक संगठित परिवहन व्यवस्था लेखनी के एक वाक्य से खण्डित हो गई। इस परिवहन व्यवस्था को पश्चिमी बंगाल तथा उत्तरी पूर्वी राज्यों के मध्य पुर्नस्थापित करने में फिर कई दशकों का समय लगा है। अभी भी नैपाल तथा बंगला देश के मध्य स्थित संकरे भारतीय भू-भाग से होकर जाने वाले लम्बे रेलमार्ग द्वारा कलकत्ता से त्रिपुरा, मिजोरम, मणीपुर, नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश, तथा साथ लगे आसाम क्षेत्र तक पहुंचने में बहुत अधिक समय लगता है। इसीलिये कलकत्ता को इन राज्यों से मिलाने वाले वायुमार्गों पर यात्रियों की बहुत भीड़ रहती है। राजनैतिक परिवर्तनों से यातायात के मार्गों में उत्पन्न बाधाओं के कारण आसाम-बंगाल प्रदेश की पटसन तथा चाय उद्योग पर आधारित संगठित अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

भारत के उत्तर पश्चिमी भाग में, पाकिस्तान के एक नये स्वतंत्र राष्ट्र के बन जाने से, श्रीनगर (काश्मीर) को जम्मू तथा पठानकोट से मिलाने के लिये एक नये राष्ट्रीय महामार्ग की प्राथमिकता अनुभव होने लगी। इस नई सड़क, रेलमार्ग और पीर पांजाल पर्वत श्रृंखला के नीचे 'जवाहर सुरंग' के निर्माण से ही काश्मीर घाटी और जम्मू प्रदेश को भारत के अन्य भाग से सब ऋतुओं में कार्यरत मार्ग द्वारा मिलाया जा सका है।

हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में प्रत्येक घाटी के चारों ओर के ऊँचे पर्वतों द्वारा अन्य घाटियों से पृथक् हो जाती है। बहुत से स्थानों पर ऊँचे पर्वतों पर से दर्रों से होकर सड़कें बनाई गई हैं, जो इन पर्वतों के दोनों ओर के रहने वाले लोगों के मध्य एक प्रकार की आर्थिक कड़ी का काम करती है। विन्ध्याचल, सतपुड़ा तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियों के मध्य के अंतरालों का प्रयोग करने वाले रेल मार्ग इन पर्वत श्रृंखलाओं के दोनों ओर के प्रदेशों के बीच सुगम सबंध स्थापित कर सके हैं।

बहुत पुराने समय से नदियों को मानव सभ्यता के केन्द्र माना जाता रहा है। ये कृषि के लिये केवल उपजाऊ भूमि ही प्रदान नहीं करती रही, अपितु आदि कालिन मानव के लिये यातायात के सुगम साधनों के रूप में भी प्रयुक्त होती रहीं हैं। गंगा नदी, उत्तरा खण्ड से पश्चिमी बंगाल तक इसके आस-पास के विभिन्नताओं के प्रदेशों में रहने वाले लोगों में, एकता स्थापित करने में सहायक रही हैं। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, इस समय गंगा नदी पर बिहार में केवल एक पुल है, तथा एक ही पुल विशाल ब्रह्मपुत्र नदी पर आसाम में है। इससे, इन नदियों के दोनों ओर के विस्तृत क्षेत्रों में अभी तक बहुत कम तथा अनियमित संचार संबंध स्थापित हो सके हैं। जैसे ही सागर तट से दूर के अण्डमान जैसे द्वीपों की अर्थव्यवस्था विकसित होकर देश के मुख्य भू-भाग की आर्थिक व्यवस्था के निकट आ जायेगी, निरन्तर जलयान तथा वायुयान सेवायें ही, इन द्वीपों के निवासियों को भारत की आर्थिक क्रियाओं से संबद्ध कर सकेंगी।

भारत के लिये एक स्वस्थ सुसंगठित परिवहन जलमार्गों का सन्तुलित विकास करना एक लक्ष्य बनाया गया है। पुराने नाव्य जलमार्गों के रेलमार्गों के विकास की स्पर्धा में पिछड़ जाने व महत्वहीन हो जाने से देश की आर्थिक अवस्था को काफी हानि उठानी पड़ी है। इसी प्रकार बहुत से क्षेत्रों में, सड़कों तथा ट्रकों की सेवाओं ने स्पर्धा में अपेक्षाकृत तीव्र तथा आरामदायक सेवाओं द्वारा, रेलमार्गों की कार्यशीलता का महत्व घटा दिया है। जबकि मालवाहक पशुओं से लेकर जलयानों तथा वायुयानों तक सभी यातायात के साधनों को इतना अधिक कार्य करने के अवसर हैं, इनमें से प्रत्येक साधन यातायात की सम्पूर्ण व्यवस्था के अंग प्रत्यंग और एक-दूसरे के पूरक होकर, एक सुसंगठित परिवहन व्यवस्था की परिधि में, अपनी-अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

स्वाध्याय

पुनरावृत्ति प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षेप में उत्तर दो।
   - (i) यातायात के साधन किसी देश की जीवन रेखायें क्यों कही जाती हैं ?
   - (ii) भारत के 4 अन्तर्राष्ट्रीय वायु पतनों के नाम बताओं तथा उन देशों के भी नाम बताओं जिनको ये वायु पत्तन भारत से मिलाते हैं।
   - (iii) भारत के नए समुद्री जलपोताश्रयों के नाम बताओ, जिनके लिये विकास कार्य आरम्भ हो चुके हैं। यह भी बताइये कि ये किस लिये महत्वपूर्ण हैं ?
2. उदाहरण सहित अन्तर बताइये :
   - (i) राष्ट्रीय तथा राजकीय महामार्ग
   - (ii) प्रमुख तथा छोटे जलपोताश्रय
   - (iii) व्यापारिक तथा मत्स्य उद्योग संबंधी जलपोताश्रय
   - (iv) मीटर गेज तथा बड़े गेज वाले रेलमार्ग

3. कारण बताओ :—

(i) उत्तरी भारत के मैदानों में अधिक रेलमार्ग हैं।

(ii) भारतीय रेलें 9 प्रशासकीय खण्डों में विभक्त हैं।

(iii) जल यातायात के साधन जबकि, भारी तथा अधिक परिमाण वाले सामान को ढोने में उपयुक्त हैं, वायु यातायात बहुत मूल्यवान वस्तुओं को लाने ले जाने के लिए उपयुक्त है।

4. भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तट पर स्थित पोताश्रयों को उनसे संबंधित निम्नलिखित विषयों पर तुलना कीजिए—

स्थिति, पृष्ठ प्रदेश, तथा विदेशी व्यापार का स्वरूप।

5. निम्न पर संक्षिप्त नोट लिखें :—

(i) पाइप लाइन परिवहन (ii) भारत में सड़क यातायात (iii) परिवहन का एकीकरण कार्य।

6. स्वयं कीजिये तथा ढूंढ़िये—

(i) ध्यान पूर्वक भारत के रेलमार्गों के मानचित्र का अध्ययन कीजिए, तथा सबसे दुर्गम क्षेत्रों को, जो रेलों द्वारा बहुत कम लाभान्वित हैं, स्पष्ट कीजिये। और यह भी बताइये कि ये क्षेत्र आर्थिक रूप से क्यों पिछड़े हुए हैं?

(ii) भारत के अन्य भागों के साथ यातायात तथा संचार व्यवस्था के संबंधों के संदर्भ में, काश्मीर घाटी तथा उत्तरी पूर्वी भारत की स्थिति का अध्ययन करो।

प्रादेशिक विकास

(क) प्रदेश तथा उनकी रचना

भूगोल में हम बहुत से भौगोलिक संघटनों का अध्ययन उनको एक विशिष्ट भू-भाग में सीमांकित करके करते हैं। यह एक क्षेत्र भी हो सकता है अथवा कोई मण्डल या विस्तृत प्रदेश भी। यहां पर क्षेत्र से हमारा तात्पर्य एक ऐसे भू-भाग से है जिसकी सीमाओं के अन्दर किसी एक घटक विशेष की प्रधानता व उसके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है, और मण्डल वह सीमित भू-भाग है जिसमें किसी घटक की बहुलता, सघनता व प्रभाविकता हो। किसी प्रदेश से अभिप्राय एक ऐसे क्षेत्र से है जो दूसरे प्रदेशों के समीप स्थित होता है, जिसमें सामान्य दशाओं की समानता अपनी कुछ विशिष्टता और विकासीय समस्याओं की समरूपता देखने में आती है।

परिभाषा तथा आधार

"प्रदेश" के भीतर तो भौगोलिक मूलतत्वों अथवा घटकों की आपेक्षिक तादात्मयता व समानता होती है जोकि इसके हृदय क्षेत्र में अधिक स्पष्टता से देखी जाती है। परन्तु इसके समीपवर्ती क्षेत्रों के घटकों से भिन्नता व असमानता एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से पृथक करती है। अतः किसी विशेष प्रदेश की रचना में समरूपता और इसका अपना व्यक्तित्व इसे विशिष्टता प्रदान करते हैं और इसको इसके सीमान्त अन्य प्रदेशों से पृथक भी करते हैं। किन्तु किसी भी प्रदेश का सही-सही सीमा निर्धारण साधारण कार्य नहीं है क्योंकि किन्हीं भी दो प्रदेशों के मध्य प्रथकीकरण की कोई निश्चित सीमा न होकर दोनों के बीच में एक ऐसा मध्य प्रदेश होता है जिसमें दोनों प्रदेशों के घटक आपस में मिले जुले व अविभाज्य होते हैं।

इतना ही नहीं प्रदेशों की रचना कई एक आधारों पर की गई है और उनमें अन्तः सम्बन्धों की भी विविधता होती है। इस प्रकार एक प्रदेश की संकल्पना विस्तृत तथा बहुत जटिल हो गई है। यह प्राकृतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक प्रकार का प्रदेश अथवा अनेक दशाओं के संयोजन पर आधारित एक सम्मलित प्रकार का प्रदेश भी बन सकता है। हम उन भौतिक, जलवायु और प्राकृतिक प्रदेशों से परिचित हैं जिनमें भारत को इसके प्रादेशिक भूगोल के अध्ययन के लिए विभाजित किया गया है। किसी भी प्रकार के प्रदेश में सारा राज्य, दो राज्यों के कुछ भाग, केवल एक जिला अथवा एक से अधिक भाग या एक गांवों पर सम्मलित क्षेत्र, लाये जा सकते हैं।

संक्षेप में हम किसी प्रदेश की पहचान सर्व प्रथम उसके घटकों की आन्तरिक व्यवस्था या उनके क्षेत्रीय समूहों में समरूपता से करते हैं। तदुपरांत इसके अन्य प्रदेशों से संबंधों को देखा और मापा जाता है। यही हमें एक देश को कई एक प्रदेशों में विभक्त करने में सहायक होता है। यह ऐसे ही है जैसे कि हम किसी व्यक्ति विशेष के गुणों के आधार पर उसे अन्य व्यक्तियों से पृथक करते हैं। अतः बहुत से प्रदेश, एक अलग स्थलीय इकाई होने के साथ-साथ अपने से बड़े और छोटे प्रदेशों पर निर्भर भी करते हैं।

मुख्यतया प्रदेश दो प्रकार के होते हैं :

(i) सामान्य समरूपता प्रधान प्रदेश, (ii) क्रिया प्रधान अथवा केन्द्र प्रभावित प्रदेश। प्रथम प्रकार के प्रदेशों की पहचान उनकी अन्तः परिस्थितियों में पाये जाने वाली समरूपता अथवा उनके आन्तरिक पारिस्परिक सम्बन्धों को देख कर की जाती है। कई बार अविकास या बेरोजगारी जैसी समस्याओं की क्षेत्रीय एक रूपता से भी किसी प्रदेश के विस्तार क्षेत्र का अनुमान हो जाता है। दूसरे प्रकार के प्रदेशों की मान्यता उस दूरी के आधार पर है जिस पर केन्द्रिय स्थान अथवा नगर अपनी क्रियाशीलता का प्रभाव डालता है। अत्याधिक आर्थिक क्रियाओं के ऐसे केन्द्रों से उनके प्रभाव क्षेत्रों की सीमाओं तक वस्तुओं, मनुष्यों तथा विचारों का पारिस्परिक बहाव-सा रहता है। इस विषय में केन्द्रीय प्रदेशों व उसके वृत्तीय पृष्ठ प्रदेश के मध्य इनकी कार्यप्रणाली की आपसी निर्भरता इन प्रदेशों के चयन में सहायक है।

आर्थिक तथा योजना प्रदेश

यह सर्वविदित है कि मानव द्वारा धरती को बदलने की क्षमता अब इतनी बढ़ गई है कि किसी भी प्राकृतिक प्रदेश की प्राकृतिक दशाएँ बहुत शीघ्रता से अदृश्य होती जा रही हैं। यही एक कारण है जिससे आर्थिक प्रदेशों की रचना और उनके आधार पर समग्र प्रादेशीय विकास पर अब बहुत ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। यह समझना आवश्यक हो गया है कि सभी संसाधन अंततः किसी स्थान अथवा क्षेत्र से बंधे होते हैं और आर्थिक व सामाजिक प्रदेश के निर्माणिक तत्वों से आरम्भ करना वास्तविकता के निकट होता है।

हम एक आर्थिक प्रदेश की बात तभी चला सकते है जब पहले राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था, उत्पादन तथा अन्य मानव क्रियाओं के विरतण तथा स्थानीकरण पर एक भू-क्षेत्र के संदर्भ में विचार करें। यह नहीं भूलना होगा कि एक आर्थिक प्रदेश की रचना भी संसाधन विकास, उत्पादों की मांग में परिवतन और वस्तुओं तथा मानवीय कौशल की गतिशीलता की तरह, निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।

सभी प्रदेशों में सम्पदा का विकास समान रूप से नहीं होता। इसलिये भारत में अभी भी बहुत से समस्या-प्रधान प्रदेश हैं। कुछ अच्छी विकास सम्भावनाओं वाले तथा इनेगिने ही वास्तव में विकसित प्रदेश हैं। यह सब आवश्यकताएँ प्रक्रियाएं और आर्थिक विकास के चरण आर्थिक उत्पादनों तथा मानव क्रिया कलापों के वितरण को बहुत जटिल बना देते हैं। इसलिए प्रदेश एक ऐसा माध्यम या साधन है जिससे इसके क्षेत्रीय एकीकरण की पहचान तथा अध्ययन हो सके।

किसी न किसी तरह भू-भागों का प्रदेशों के रूप में विभाजन काफी समय से प्रचलित सा है। किन्तु अब प्रायः विश्व के सभी भागों में स्वतंत्र तथा योजनाबद्ध दोनों प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं में आर्थिक भूगोल से सम्बन्धित तत्वों को मानचित्रों पर अंकन करने तथा उनके विशलेषण की कठिनाई अनुभव की गई है। भारत जैसे घने आबाद तथा विकासशील देश में राष्ट्रीय क्षेत्र का इस प्रकार के आर्थिक प्रदेशों में विभाजन देश की आर्थिक उन्नति की योजनाओं के निर्माण के लिये आवश्यक हो गया है।

अब केवल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास, इसे कृषि और उद्योग जैसे बड़े-बड़े स्कैटरों में विभाजित कर के करना पर्याप्त नहीं। फलतः संसाधनों के क्षेत्रीय वितरण और उनकी विकास

संभावनाओं की समस्याओं को सम्मुख रखा जाता है ताकि अलग-अलग प्रदेशों का संतुलित विकास किया जा सके। प्रदेशीय विज्ञान में इसके आदिकाल से अब तक बहुत से महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारत में आर्थिक प्रादेशीकरण की कोई भी योजना एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य को केन्द्रित किए रहती है। और वह तथ्य यह है कि हमारी सम्पदा के योजनाबद्ध विकास के लिये केवल व्यय तथा उत्पादन के खण्डीय विभाजन को ही ध्यान में न रखा जाए अपितु विकास कार्यों में स्थिति पक्ष को भी ध्यान में रखा जाए। पर्यावरण और प्रशासन सुविधाओं पर आधारित प्रदेशों से योजना प्रदेश (अथवा सुनियोजित विकास के लिये आर्थिक प्रदेश) सर्वथा भिन्न होते हैं। इनकी रचना में अन्य सभी प्रदेशों की निर्माण विधियों से सहायता ली जाती है। इन्हीं कारणों से यह प्रदेश एक प्राकृतिक प्रदेश की तरह इतने समरूपता वाले न होकर क्रियाशीलता प्रधान होते हैं।

यद्यपि राष्ट्र को विभिन्न स्तर के आर्थिक प्रदेशों में विभाजित करने के ढंग अभी अपने प्रारंभिक चरण में ही हैं किन्तु अब यह प्रादेशिक योजनाओं को बनाने के लिये एक सर्वमान्य तथ्य मान लिए गये हैं।

यह जान लेने के पश्चात् कि 'प्रदेश' क्या है, और आधुनिक समय में इसकी क्या आवश्यकता है, अब हम कुछ उन नई मान्यताओं का अवलोकन करते हैं जोकि प्रदेशीयकरण की क्रिया के अध्ययन में उपयुक्त होती हैं।

श्रम का स्थलीय विभाजन

किसी भी देश, प्रदेश अथवा स्थलीय खंड को मानवीय शक्ति की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा देश के आर्थिक विकास में ये अपनी विशिष्ट भूमिका निभाते हैं। यह श्रम शक्ति उन महत्वपूर्ण उत्पादक शक्तियों में से एक है जो विभिन्न प्रकार का भौतिक सामान तैयार करती हैं। इससे विभिन्न प्रदेशों में श्रम-बल के समुचित विभाजन की आवश्यकता का संकेत भी मिलता है।

यही प्राकृतिक सम्पदा के बढ़ाने तथा उसके उचित उपयोग में सहायक भी होता है। आर्थिक विकास का स्तर कार्यरत जनसमुदाय के श्रम-विभाजन को नियंत्रण करता है। हमने समूचे भारत व इसके मुख्य प्रदेशों के संदर्भ में पहले ही श्रमिक शक्ति की रूप रेखा और इसकी विशेषताओं का अध्ययन कर लिया है। अब हम देखेंगे कि यह किस प्रकार उत्पादन की अवस्थिति, लोगों के संचालन तथा संसाधन-विकास से अंत: सम्बद्ध है।

श्रमिक समुदाय का विभिन्न काम-धन्धों और प्रदेशों में पुन: विभाजन तथा पुन: वितरण किसी भी विकासशील अर्थव्यवस्था में लगातार बना रहता है। इस प्रकार के परिवर्तन धीमी अथवा तीव्रगति से होते रहते हैं। साधारणतया श्रमिक समुदाय की जितनी अधिक उर्ध्वाधर गति निम्नस्तर के उद्यमों से उच्च स्तर के उद्यमों को और तथा क्षतिज गति एक प्रदेश से दूसरे प्रदेशों को होगी उतनी ही अधिक आर्थिक विकास की गति होगी। भारत में यद्यपि श्रमिक समुदाय की गतिशीलता अपेक्षाकृत धीमी रही है और कृषि क्षेत्र से कृषि-भिन्न क्षेत्र में श्रमिकों का व्यवसाय विचलन भी कम हुआ है फिर भी पुरानी व्यवसाय रचना में कुछ प्रारंभिक परिवर्तन देखने में आये हैं।

जैसे ही किसी क्षेत्र में किसी नये उद्योग का उदय तथा वहां का आर्थिक विकास होता है, वैसे ही उसके समीपस्थ क्षेत्र से श्रमिक लोगों का उस क्षेत्र में आना आरंभ हो जाता है। जिन क्षेत्रों से लोगों का विकास होता है वहां बेरोजगार कार्यकर्ता अधिक होते हैं और आर्थिक विकास की गति मंद होती है। प्रादेशीय विकास के स्तरों में बहुत विषमता के कारण, भारत में श्रमिकों का ऐसा विचलन एक सामान्य घटना है। परन्तु प्रत्येक प्रदेश कुछ समय पश्चात किसी उद्योग में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेता है। इससे वहां एक विशिष्ट श्रमिक कार्य-कुशलता तथा इसके अनुरूप श्रमिक स्थलीय क्षेत्र का जन्म होता है। यह वहां के संसाधन विकास का आधार सिद्ध होता है। इससे स्थानीय क्षेत्र के पुरुष तथा स्त्री कामगारों को पूर्ण

रोज़गार के अवसर मिलते हैं और उनकी दक्षता और कार्य-कुशलता का समुचित सदुपयोग हो पाता है।

इसके साथ किसी क्षेत्र में श्रमिक समुदाय का केन्द्रीयकरण भी स्वयं बहुत से उद्योगों को आकृष्ट कर लेता है। विशेषकर निर्माण उद्योग को। जनसमुदाय का किसी क्षेत्र की ओर विचलन तथा उद्योगों का केन्द्रीयकरण दोनों ही क्रियाएं तीव्र नगरीय विकास की पृष्ठभूमि में हो रही है। इसका मुख्य परिणाम कृषि कार्यों में तथा अपने घरेलू उद्योगों में संलग्न लोगों को इन कार्यों से हटाकर अधिक उत्पादक उद्योगों में कार्य करने के लिये आकृष्ट करता है।

इसके फलस्वरूप कृषि कार्यों से उद्योगों के लिये व्यवसाय का पुनर्चयन प्रत्यक्ष दिखाई देता है जैसे ही विभिन्न सामाजिक व आर्थिक सेवाओं के लिये जनशक्ति की आवश्यकता बढ़ जाती है। श्रमिक संख्या के स्थलीय विभाजन के पुराने रूप में परिवर्तन जनसमुदाय के ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों की ओर गति, तथा उनके रहन सहन के ढंग में परिवर्तन के साथ सम्बन्धित रहा है। परन्तु इस प्रकार यदि कोई जनपरिवर्तन बिना किसी नियंत्रण के काफी समय तक चलने दिया जाए अर्थात उसकी दिशा और झुकाव की ओर ध्यान न दिया जाए तो यह नगरीय सुविधाओं की घटती क्षमता के कारण समस्याएं उत्पन्न कर देगा। बड़े शहरों में तो अस्थाई श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है और बहुत से कार्यकर्ताओं को रोज़गार नहीं मिल पाता। इसके विपरीत श्रमिक बल की उतोरोत्तर कमी के कारण गाँव की आर्थिक प्रगति के धीमे होते रहने का भय रहता है।

ऐसे देशों में जहां उद्योगों का तीव्रता से विकास हुआ है वहाँ सभी प्राकृतिक व आर्थिक सुविधाओं को श्रमिकों के वितरण को सुव्यवस्थित करने में लगा दिया गया है। और क्योंकि श्रमिक समुदाय की परिवर्तनीयता का अर्थ है, जनसमुदाय द्वारा कार्य, व्यवसाय, उद्योगों, स्थिति, स्तर अथवा प्रदेशों का परिवर्तन, इस कारण इस श्रमिक समुदाय के परिवर्तन का किसी प्रदेश के विकास पर काफी प्रभाव पड़ता है। उदाहरतया एक ऐसा राष्ट्र उन्नत नहीं माना जाता जहां अधिकतर जनसमुदाय अतिरिक्त सेवाओं में लगा हो और उत्पादक व्यवसाओं में कोई वृद्धि न हुई हो।

इस प्रकार उद्योगों में व्यस्त कार्यकर्ताओं के कुछ एक प्रदेशों में अधिक एकत्र हो जाने से कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिन क्षेत्रों से ये कामगार आते हैं वहां की आर्थिक दशा ह्रासोन्मुख होने लगती है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में जहां इस प्रकार के परिवर्तन बहुत तीव्र हैं, औद्योगिक व्यवसाओं में लगे श्रमिकों के अल्प व दीर्घकालीन परिवर्तनों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है। सोवियत संघ में, जहाँ सम्पूर्ण आर्थिक विकास राज्य द्वारा नियोजित है, नये औद्योगिक संस्थानों व नगरों को इस प्रकार बनाया जाता है कि न तो किसी क्षेत्र में श्रमिकों बहुलता हो और न ही कमी। इससे श्रमिकों की सर्वाधिक कार्य-कुशलता प्राप्त की जाती है। भारत में भी हमारे महानगर देहाती क्षेत्रों से तीव्रगति से होने वाले अतिरिक्त जनसमुदाय के आन्तरिक प्रवास को सहन करने में सक्षम् नहीं रहे। अब भिन्न-भिन्न संसाधन प्रदेशों को श्रमिक आवश्यकताओं को निर्धारित करके गांवों से नगरों की ओर कामगारों के प्रवास को ठीक दिशा देने पर विचार करने का समय है।

पंजाब को छोड़ कर प्राय: और कोई भी राज्य ऐसा नहीं जहां देहात में बढ़ती हुई निर्धनता से बाध्य हो कर वहां के निवासी निकट या दूर के शहरों में न गये हों। पंजाब से गांवों को समृद्धि के कारण इस प्रकार का उत्तप्रवास देखने में नहीं आता।

विकसित देशों के औद्योगिक क्षेत्रों में जैसे ही प्रतिव्यक्ति उत्पादन स्वचलित यंत्रों के प्रयोग से बढ़ता है (अधिक यंत्रीकरण में कम श्रमिकों की आवश्यकता होती है) तो श्रमिक काफी संख्या में बेरोज़गार हो जाते हैं। कोयला खनन जैसे कठिन कार्यों में नई पीढ़ी कम रुचि दिखाती है। इन सब

परिवर्तनों के कारण श्रमिक वर्ग के पुनः संस्थापन की आवश्यकता पड़ती है जिससे इसके वितरण को फिर से व्यवस्थित किया जा सके। इस प्रकार श्रमिकों का स्थान परिवर्तन तथा विभाजन किसी क्षेत्र की आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन का सूचक बन सकता है, यदि इसकी गतिविधि को पहले से ध्यान में रखा गया हो।

हमारे देश में 1951 से जब से पंचवर्षीय योजना आरंभ हुई है, बहुत बड़ी संख्या में उद्योगों खनन केन्द्रों जल परियोजनाओं, मुख्य मार्गों तथा नए नगरों का निर्माण हुआ है। इन विकास कार्यों की तीव्र गति भविष्य में सामने आने वाली स्थलीय श्रम विभाजन की समस्या की ओर संकेत करती है।

हम जानते हैं कि जैसे ही यह कार्य पूर्ण होंगे, एक बहुत बड़ी संख्या में कार्य कुशल व्यवसायी भी बेरोजार हो जायेंगे। इसका उपाय यह है कि काफी समय पहले कुछ ऐसी समुचित योजना बनानी चाहिए जिससे इन लोगों को उसी प्रकार के विकास कामों में अन्य स्थानों पर लगाया जा सके। सरकार को उद्योगों के पतन, अव्यवस्थित संस्थानों प्राकृतिक अथवा अन्य प्रकोपों के कारण उत्पन्न श्रमिक बेरोज़गारी की उचित व्यवस्था करनी भी जरूरी हो जाती है। इस प्रकार के अध्ययनों की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि इनके निष्कर्षों से देश में ऐसे समुचित प्रदेशों की रचना करने में सहायता मिलेगी जहां संसाधन विकास तथा श्रम-शक्ति के उपयोग में संतुलन स्थापित किया जा सके।

सम्पदा पर आधारित उत्पादन चक्र की संकल्पना

आधुनिक औद्योगीकरण की प्रक्रिया किसी बाहुल्ल सम्पदा वाले प्रदेश में औद्योगिक स्थानों के केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करती है। ऐसे क्षेत्रों में छोटे व बड़े उद्योगों की एक श्रंखला सी बन जाती है जो कि कच्चे माल की सफाई से लेकर निर्मित सामान के उत्पादन तथा उसके बाजारीय वितरण तक फैल जाती है। आरंभिक कच्चे माल का प्रयोग इसकी सफाई व कई प्रक्रियाओं द्वारा बार-बार किया जाता है। इसी के अनुरूप पक्के निर्मित काल का उत्पादन भी अपने कई स्तरों में लगातार होता रहता है। इस प्रकार अनेक स्तरों पर खनिजों, पशु तथा वनस्पति उत्पादों, जल और वायु तक का रूपान्तरण करके उनसे कच्चा औद्योगिक माल प्राप्त करते हैं। अनेक प्रकार की ऐसी वस्तुओं का निर्माण उत्पादन चक्र की स्थापना कर लेने से संभव हो जाता है।

विभिन्न प्रदेशों में विद्युत शक्ति की बढ़ती हुई मांग को वहां के सब शक्ति साधनों को पूर्ण उत्पादन चक्रों के आधार पर काम में ला कर, पूरा किया जाता है। पहले आठ प्रकार के शक्ति उत्पादन चक्र प्रचलित थे जिन में खनिज ईंधनों, उष्मीय तथा नदी जल, सूर्यताप, वायु और ज्वार-भाटे की प्रंचडता इस कार्य के लिए संभाव्य साधन का काम देती थी। अब तो अणुशक्ति तथा सागरीय खनिजों पर दो नवीनतम उत्पादन चक्र स्थापित किये जा चुके हैं। एक ही नदी का जल कई स्थानों पर बार बार-काम में ला कर उससे जल विद्युत उत्पन्न कर ली जाती है। अब तो स्थानीय क्षेत्रों की संभाव्य शक्ति संपदा का पूरा प्रयोग करके विद्युत का संचालन भारत में भी प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय शक्ति जालों की स्थापना से हो रहा है।

खनिज तेल तथा विद्युत शक्ति का संचार पाइप नलियों तथा संचारक तारों से होता है। यह आजकल औद्योगिक तथा शक्ति उत्पादन के उत्तोरोतर विस्तृत होने वाले चक्रों की जीवन रेखायें हैं। संसाधनों पर आधरित सात उत्पादन चक्र बहुत प्रसिद्ध हैं। हर एक किसी न किसी विशिष्टता और श्रम के स्थलीय विभाजन का प्रतिनिधित्व करता है।

(क) पेट्रोलियम और गैस रसायन चक्र।

(ख) + (ग) लोह और अलोह धातुक चक्र।

(घ) कृषि प्रक्रियात्मक चक्र।

(ङ.) सिंचाई-कृषि उद्योग चक्र और

(च) जल विद्युत उत्पादन चक्र।

सम्पदाओं के उपयोग में रासायनों तथा रासायनिक ढंगों के उपयोग ने भी औद्योगिक क्षेत्रों में उत्पादन चक्र शृंखला को जन्म दिया है। विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक ढंगों से अब यह संभव हो गया है कि एक ही प्रकार के कच्चे माल से अनेक प्रकार के रासायनिक तत्व प्राप्त किये जा सकें। उदाहरण स्वरूप—प्लास्टिक, रासायनिक रबड़, रासायनिक चर्बी वाले तेज़ाब, सब खनिज तेल से प्राप्त होते हैं। आज रासानिक तत्वों का भारी उत्पादन साधारण घरेलू उपयोग की वस्तुओं से लेकर बहुत सी महत्वपूर्ण वस्तुओं तक, बहुत से गौण कच्चे माल पर आधारित है। इससे खनिज तेल का मूल्य प्रमुख औद्योगिक कच्चे माल के रूप में कई गुणा बढ़ गया है। आधुनिकतम प्रयोग रासायनिक कागज के उत्पादन का है जिससे लकड़ी की कच्चे माल के रूप में उपयोगिता पूर्णतया बदल जायेगी, तथा खनिज तेल के रासायनिक तत्वों की महता बढ़ जायेगी। इस प्रकार के उत्पादन चक्र के विस्तार से किसी एक भी खनिज तेल, अथवा प्राकृतिक गैस या अन्य किसी और आधातुयीय खनिज केन्द्र के चारों ओर रासायनिक उद्योगों का बहुत अधिक विस्तार हुआ है।

ताम्र-धातु को पिघलाने में अथवा कच्चे खनिज तेल के शोधन से बहुत भारी मात्रा में अन्य गौण उपजें प्राप्त हो जाती हैं जोकि बाहर निकलती हुई गैसों, तरल तथा प्रयुक्त पदार्थों के पुन: शोधन से मिलती है। लोह अयस्क को शुद्ध करते समय, उसके छोटे टुकड़ों को भी इस्पात बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है यदि यह उत्तम प्रकार का हो। एक उद्योग से निश्कासित व्यर्थ पदार्थ समीपस्थ अन्य उद्योग में उपयोग में आ जाता है। चीनी उद्योग में चीनी बनाने की प्रक्रिया में गन्ने की खोई व शीरा जैसे व्यर्थ तथा अतिरिक्त पदार्थ अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए कच्चे माल के रूप में उपयोग हो जाते हैं। ऐसे ही गहन कृषि व फल उत्पादन क्षेत्रों में अन्य, आलू व फलों इत्यादि से, जब यह खराब होने की स्थिति में होने लगते हैं तो इनसे मद्यसार या मुरब्बे इत्यादि बना लिये जाते हैं।

इस प्रकार के उत्पादन चक्र किसी प्रदेश की प्राकृतिक व आर्थिक सम्पदा के सम्पूर्ण शोषण के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध होते हैं। आजकल कमी के युग में बढ़ती हुई जनसंख्या की मांग पूर्ति के लिए हर वस्तु के प्रत्येक भाग का, तथा प्रत्येक सहायक उत्पादित वस्तु का पूर्णत: उपयोग आवश्यक हो चुका है। जबकि यह इसी प्रकार के गहन उपयोगों से संभव है। इस विधि का महत्व स्वत: ही बढ़ जाता है। उत्पादन चक्र की पुनरावृति का दूसरा लाभ स्थल भागों, जलाशयों तथा वायुमण्डल को प्रदूषित होने से बचाने में है। बहुत भारी मात्रा में धुआं और गैसें जो वायुमण्डल को दूषित करती है, तथा कल कारखानों से भारी मात्रा में निकला व्यर्थ पदार्थ स्थल व जल दोनों को प्रदूषित करता है। इस प्रकार के उदाहरण भारत के औद्योगिक नगरों में प्राय: देखने को मिल जायेंगे तथा विश्व के विस्तृत औद्योगिक प्रदेशों में तो यह आज की भारी समस्या हो चुकी है। इस प्रदूषण को जन्म देने वाली बहुत सी गैसें, धूल व अन्य व्यर्थ पदार्थ फिर से उत्पादन चक्र में डालें जा सकते हैं। जिससे प्रदूषण की समस्या भी हल होगी और साथ में कुछ लाभकारी वस्तुओं का उत्पादन भी होगा।

स्थलीय उत्पादन संकुल

प्रादेशिक श्रम विभाजन और शक्ति उत्पादन का विस्तार या अन्य संसाधन आधारित उत्पादन चक्र किसी क्षेत्र में एक अवधि के बाद स्थलीय उत्पादन संकुलों की रचना करते हैं। हमने प्रारम्भ में ही आर्थिक प्रदेशों के निर्माण की महता का विवरण दिया है। स्थलीय उत्पादन संकुल इस प्रकार के प्रदेश निर्धारण का मार्ग बनाते हैं। इसके अन्तर्गत आने वाली बहुत सी बातों के

संकेत पहले ही औद्योगिक स्थिति के अध्ययन में आ चुके हैं। किन्तु अपने वर्तमान रूप में यह सिद्धान्त आधुनिक औद्योगिक समूहों के उत्पादन से सम्बन्धित सभी स्थिति पक्षों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने के लिये अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है।

रूस के प्रादेशीय वैज्ञानिक एन० एन० कोलोसवस्को ने सर्वप्रथम इस नाम का प्रतिपादन किया था। स्थलीय उत्पादन संकुल से उनका अभिप्राय किसी क्षेत्र में सामाजिक उत्पादन की सभी शाखाओं के परिस्परिक सम्बन्धों की बढ़ती हुई अंतः निर्भरता के विकास से है। जबकि हर एक औद्योगिक केन्द्र अपनी अनेक उत्पादन शाखाओं और प्रक्रियाओं समेत एक उप-प्रणाली का निर्माण करता है, किसी बड़े क्षेत्र में इनका एकत्तीकरण उत्पादन संकुल या पूर्ण प्रणाली को जन्म देता है। ऐसी प्रत्येक उत्पादन इकाई आत्म निर्भर भी होती है तथा दूसरे संस्थानों पर निर्भर भी। आधुनिक औद्योगिक विकास ने विभिन्न आर्थिक क्रियाओं तथा भौगोलिक वातावरण के मध्य आपसी सम्बंधों को बढ़ावा देकर इस प्रकार के उत्पादन संकुलों के विकास के लिए भूमिका निभाई है। दूसरे शब्दों में एक उत्पादन संकुल, किसी देश या प्रदेश के पूर्ण आर्थिक भू-दर्शन के समक्ष होता है।

किसी क्षेत्र में सबसे अधिक उपयुक्त औद्योगिक इकाई वही है जो उस क्षेत्र की स्थिति, कच्चे माल के स्रोत, भार-वाहन के व्यय, ईंधन, जनशक्ति, और पर्यावरण के संरक्षण के अनुरूप साधनों का सर्वोत्तम उपयोग कर सकती है। इन सबका संयोजन भवन-निर्माण के बहुत से व्यय को बचा सकता है क्योंकि इनका प्रयोग सब निकटवर्ती संस्थान मिलकर कर लेते हैं। यह व्यवस्था कच्चे माल व निर्मित सामान के वाहन का व्यय भी बहुत कम कर देती है तथा अधिक व्यापार सुविधाएं और कार्य-कुशल श्रमिक वहीं प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के स्वाभाविक लाभ उन सभी उत्पादन संस्थानों को प्राप्त होते रहे जो एक ही सम्मिलित क्षेत्र में एक दूसरे के समीप स्थापित किये जाते हैं। इन्होंने ही महानगरों के समीपस्थ क्षेत्रों में बड़े औद्योगिक प्रदेशों के विकास को बढ़ावा दिया है। अभी तक ऐसे महानगरीय औद्योगिक क्षेत्रों का दुष्प्रभाव यह रहा है कि इनका विकास राष्ट्रीय तथा प्रदेशीय स्तर की सभी बहुमुखी योजनाओं की अवहेलना करता हुआ होता रहा हैं। जबकि प्रत्येक औद्योगिक संस्थान में केवल स्थानीय लाभों को ध्यान में रखा जाता रहा है, क्षेत्रीय संपदा पर आधारित वर्तमान स्थलीय उत्पादन संकुलों की व्यवस्था ने छोटे बड़े बहु-स्तरीय विकास केन्द्रों के आसपास, सारे प्रदेश को प्रगति के विचार को जन्म दिया है।

इस प्रकार के संकुल अपने विशिष्ट प्रकार के उत्पादन, उत्पादन संस्थानों के संयोजन, उनके स्थानीय केन्द्रीयकरण, उद्योगों की विविधता तथा प्रदेश के विभिन्न भागों में सामाजिक व आर्थिक सम्बन्धों की घनिष्टता आदि के लिये विख्यात है।

पुराने औद्योगिक समूहों तथा आधुनिक उत्पादन संकुलों में अन्तर

उत्पादन संकुलों के सिद्धान्त का उद्देश्य किसी महानगरीय औद्योगिक केन्द्र अर्थात एक सीमित क्षेत्र के कुछ एक केन्द्र बिन्दुओं के समीपवर्ती प्रदेश की ही आर्थिक प्रगति नहीं है। प्रादेशिक अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए यह अधिक अच्छा समझा जा रहा है कि ऐसे विकास केन्द्र समस्त संभव विस्तृत क्षेत्र में फैले हों। इससे कुछ एक बड़े स्थानों तक सीमित उद्योगिक उत्पादन के अधिकतम तथा अनियन्त्रित केन्द्रीकरण के उन दुष्परिणामों से बचा जा सकता है जो अब तक देखने में आते रहे हैं। ऐसी उद्योगिक संरचना कालांतर में बहुत खर्चीली सिद्ध होती है। जैसा कि बम्बई जैसे नगरों में भूमि का मूल्य बढ़ जाने से, तथा करों व निर्माण कार्यों के व्यय में वृद्धि के कारण हुआ है। ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों के आने से यहां श्रमशक्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार के नगर आपस की प्रतिस्पर्धा अथवा नगर के चारों ओर के देहाती क्षेत्रों के हित को दबा कर बने

हैं। जो जनशक्ति ग्रामों से नगरों में आई है उसका किसी प्रकार से ग्रामों को आर्थिक लाभ नहीं पहुंचा है। भारत के महाराष्ट्र और पं० बंगाल के प्रमुख औद्योगिक राज्यों के केवल बम्बई और कलकत्ता दो महानगरीय जिलों में देश की 2.5% जनसंख्या रहती है। परन्तु यहीं भारत के समस्त उद्योगिक उत्पादन का एक तिहाई और प्रत्येक राज्य के वर्तमान कारखानों के उत्पादन मूल्य का तीन चौथाई भाग केन्द्रित है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इन नगरों में कल-कारखानों के समूहीकरण से यह प्रगति इन राज्यों के तथा देश के अन्य भागों की कीमत पर हुई है। यहां पर इतने अधिक उद्योग पहले अंग्रेजी राज्य नीति अथवा इन प्रदेशों की स्थिति की भौगोलिक उपयुक्तता के कारण बन गये हैं। किन्तु इन्होंने क्षेत्रीय असमानता उत्पन्न कर दी है तथा आर्थिक विषमता को अधिक बढ़ाया है।

स्थलीय उत्पादन संकुल की संकल्पना उद्योगों के केन्द्रीयकरण को कतिपय नये ढंग से देखती है। पहले से ही किसी उत्पादन क्रिया से सम्बन्धित समस्त संभव क्रियाओं की एक शृंखला के रूप में व्यवस्था कर डालने की योजना बनाई जाती है। यह केन्द्र विभिन्न उत्पादनों में और विभिन्न स्थानों पर पूरे क्षेत्र के विकास के लिये निरंतर व्यवस्थित कड़ियां प्रदान करते हैं। ये कड़ियां तब तक अविकसित रहती हैं जब तक ऐसे प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था अपने प्रारंभिक चरणों में अपूर्ण रहती।

सोवियत संघ के वैज्ञानिक मध्य एशिया तथा साइबेरिया के अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिये बहुत प्रयत्नशील है ताकि इन क्षेत्रों की प्राकृतिक सम्पदा के आधार पर तत्सम्बंधी उत्पादन संकुल बनाये जायें। यहां यह ध्यान रखा जा रहा है कि या तो कोई आर्थिक क्रिया ऐसी जगहों पर स्थित हो जहां इन सामान्यत: कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों में भी जनसंख्या की कुछ स्थलीय सघनता है, अथवा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे राज्य में श्रमिक जनसंख्या का पुनः वितरण कर दिया जाये। जबकि योरूप, संयुक्त राज्य अमेरीका, जापान, दक्षिणी अमरीका तथा अफ्रीका के देशों में उत्पादन संकुल प्राय: समुद्रवर्ती औद्योगिक क्षेत्रों में है जहां पर इनको कई एक सुविधाएं प्राप्त हैं, सोवियत रूस में इनकी स्थापना स्थल के भीतरी क्षेत्रों में की गई है। अन्तिम विश्व युद्ध के पश्चात् सोवियत संघ के उत्पादन संकलों का विकास यूराल के पूर्व में हुआ जहां इनका आधारभूत सामान, खनिज, जंगल, कृषि तथा जलविद्युत सम्पदा से उपलब्ध हो जाता है। नीचे के कुछ उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार ये संकुल अपने पूर्ण रूप को धारण कर लेते हैं :

1. ईंधन और शक्ति रसायन संकुल

खनिज तेल का उत्पादन तथा शोधन, प्राकृतिक गैस, कोयला खनन, शक्ति उत्पादन, नत्रजनिक व फासफोरस का उत्पादन, उर्वरक, गंधक का तेजाब, वार्निश तथा पैन्ट व रंग, प्लास्टिक, रासायन, व रासायनिक तन्तु, कीट नाशक वस्तुएं इत्यादि।

2. कृषि-उद्योग सम्बन्धी संकुल

(कपास, फल व सब्जी उत्पादन पर आधारित) कृषि द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की प्रक्रिया, जैसे सफाई, कताई, बुनाई, कपास की गांठ बनाना, फलों को डिब्बों में बन्द करके अधिक समय तक रखना, मद्य सम्बन्धी तरल पदार्थ का उत्पादन तथा इसे बोतलों में भरना।

3. मुख्य खनिज उद्योग

कोयला खनन, कोक, लोहा तथा इस्पात, धातु शोधन, विद्युत शक्ति उत्पादन, कल उत्पादन, यन्त्रों का निर्माण, रासायनिक ईंधन, रासायनिक रबड़, तथा अन्य अनेकों रासायनिक उद्योग।

आइए अब हम भारत से कोई उदाहरण लें जिससे इस संकल्पना को स्वदेशीय संदर्भ में समझ सकें। देश के पूर्वी भाग में दुर्गापुर-रांची-राउरकेला औद्योगिक प्रदेश में बिहार, पं० बंगाल तथा उड़ीसा के बहुत से जिले हैं। यह न तो कोई प्राकृतिक प्रदेश है और न कोई नदी घाटी प्रदेश। यह न ही

कोई प्रशासकीय प्रदेश है और बम्बई, कलकत्ता के समान न कोई महानगरीय प्रदेश जो किसी बड़े शहर के चारों ओर विकसित हुआ हो। इस प्रदेश में तीन प्रमुख संकुलों का अन्त: क्रिया-सम्बन्ध है और यह तीन संकुल हैं—(1) खनिज संकुल, (2) शक्ति संकुल, (3) इस्पात और भारी अभियंत्रिकी संकुल खनिज भण्डारों की सम्पन्नता ने इनके अयस्कों के अनेक सम्मिश्रणों की सहायता से कई स्थानों पर मूलभूत उद्योगों की स्थापना को संभव बनाया है। इन केन्द्रों के आस-पास कई एक द्वितीय तथा गौण उद्योग पनपे हैं। शक्ति तथा आवागमन के साधन, तकनीकी, आर्थिक तथा सामाजिक सहयोगी रचना जैसे सब सहायक तत्वों ने मिलकर विभिन्न उत्पादन संकुलों के मध्य आपसी संबंध की कड़ियां बना दी हैं। सहोपयोगी रचना से यहां हमारा तात्पर्य उन भवनों व संस्थानों की बनावट से है जिनमें कल-कारखाने, शक्ति-संचार केन्द्र, आवागमन के साधनों के केन्द्र स्थापित हो सकते हों तथा जो श्रमिकों के हितों में अनेक सामाजिक कार्यों के लिए भी उपयुक्त हो सकते हों।

हम यह देख सकते हैं कि कैसे यह उत्पादन संकुल आकर्षण केन्द्रों के समान कार्य कर रहे हैं और इनके चारों ओर भारत का एक नया मुख्य औद्योगिक प्रदेश तीव्रता से देश के मानचित्र पर उदय हो रहा है। यहां उद्योगों की दोनों प्रक्रियाएं (i) केन्द्रीयकरण तथा (ii) विकेन्द्रीयकरण साथ साथ चल रही हैं। श्रमिक जनसंख्या में छोटे गांवों से लेकर बड़े नगरों तक विभिन्न आकार के बहुत से आवास केन्द्रों में वितरित होने की प्रवृत्ति है। विभिन्न औद्योगिक केन्द्र तथा उद्योग-धंधे एक दूसरे से आर्थिक व्यवस्था के विविधीकरण के द्वारा पारिस्परिक आदान-प्रदान करने का प्रवृत हैं। भारत की राष्ट्रीय योजना के सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का 50 प्रतिशत इन्हीं बिहार-मध्य प्रदेश और उड़ीसा के पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक विकास में लगा है। ऐसी आशा की जाती थी कि देश में यह प्रदेश एक 'आदर्श स्थलीय उत्पादन संकुल' को उपस्थित कर सकेगा। किन्तु अभी तक नये उत्पादन केन्द्रों का प्रदेश की प्रचलित कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा अथवा बहुत ही नगण्य प्रभाव पड़ा है यद्यपि यहां पर आधुनिकतम उद्योगों की स्थापना हुई है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश के कई भागों में स्थलीय-कृषि-उद्योग संकुलों का संगठन बहुत लाभकारी होगा। यह हमारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में घनिष्ठ क्रियाशीलता उत्पन्न करेगा। ग्रामीण क्षेत्रों की जनशक्ति, सम्भवत:, कृषि व उद्योग धन्धों में उचित तादात्मय स्थापित करके, पूरे साल अधिक लाभकारी ढ़ंग से काम पर लगाई जा सकती है। इससे छोटे तथा माध्यम आकार के नगरों की आर्थिक स्थिति, जिसकी गति पिछले दशकों में बड़ी धीमी रही है, में बहुत अधिक सुधार किया जा सकता है।

उद्योगों के क्षेत्र में छोटे परन्तु यान्त्रिकी कुशलता में सुव्यवस्थित ऐसे उद्योग जो बड़े-बड़े स्थलीय उत्पादन संकुलों के अंग हों, अधिक आर्थिक कुशलता प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार का संकुल आरंभ में यदि किसी छोटे स्थान या छोटे क्षेत्र में हो तो वहां की विशेषताओं को गृहण कर लेने वाला स्थानीय संकुल कहा जा सकता है। किसी क्षेत्र की आबादी या संपदा के बिखरे होने पर यदि यह इनके अनुरूप कई स्थानों में फैल जावे तो इसे प्रादेशीय संकुल कहेंगे। कई बार उद्योगों का एक समुह आवास केन्द्रों की पंक्ति अथवा प्रशासकीय सीमाओं को काटती हुई किसी रेखा के साथ-साथ दिखाई देता है। यही अन्तर प्रादेशीय कहलाता है।

यह पूरा दृष्टिकोण विभिन्न स्तरों पर क्रियाओं के आपसी तालमेल तथा सम्पूर्ण प्रदेश के प्रत्येक पहलू की क्रमबद्ध योजनाबन्दी पर बहुत बल देता है। प्रदेश के सामाजिक उत्थान के लिये भी इस योजना में स्थान होता है। नगनीय आवास केन्द्रों का सुसंठित क्रम भी स्थलीय उत्पादन संकुल कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के नगर एक ऐसे केन्द्र बिन्दु सिद्ध होते हैं जिनके समीप बाद में औद्योगिक अथवा केन्द्रिय-

परिवहन क्षेत्र बन जाता है। तदुपरांत इन्हीं के आस-पास प्रादेशीय पृष्ठ प्रदेश विकसित होना प्रारंभ होता है।

यद्यपि यह सारा सिद्धान्त अभी भी अपनी प्रयोगात्मक स्थिति में है, फिर भी इससे हमको बहुत उपयोगी संकल्पनाएं प्राप्त हुई हैं। इनके आधार पर भारत जैसे उन्नतिशील देश के विभिन्न प्रदेशों के चतुर्दिक विकास के लिये योजनाएँ बनाई जा सकती हैं।

(ख) आर्थिक प्रादेशीयकरण तथा बहु-स्तरीय योजना

योजना बनाते समय हमें मानव कल्याण के उद्देश्य से आर्थिक विकास की सामान्य दिशा, इसकी प्रगति और इसके विभिन्न क्षेत्रों की क्रम-बद्धता के लिए निर्णय लेने होते हैं। हम जानते हैं कि योजना अल्पकालीन भी होती है और दीर्घ-कालीन भी। एक और प्रकार से यह खंडात्मक अर्थात 'सेक्टोरल' होती है और प्रादेशिक अर्थात रिजिनल भी। परन्तु एक योजना प्रणाली दूसरी के प्रतिकूल नहीं होती। उदाहरणतया प्रादेशिक योजना में जब संसाधन विकास का अवलोकन आर्थिक प्रादेशीयकरण के संदर्भ में करते हैं तो दूसरे पक्षों की अवहेलना नहीं की जाती।

भारत जैसे देश में तो यह आवश्यक हो गया है कि हम अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को एक बहु-स्तरीय प्रणाली के रूप में स्वीकार करें। जितना बड़ा कोई देश होगा, उतनी ही अधिक आवश्यकता उसकी अर्थव्यवस्था को भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बांटने की होती है। ऐसा हर एक प्रदेश अपने आप में एक आत्म-निर्भर और पूर्ण स्थलीय इकाई है जो कुछ समान दशाओं के आधार पर विकसित होती है।

योजना विधि या तो एक स्तरीय होती है अथवा बहु-स्तरीय। पहली दशा में निर्णय केवल राष्ट्रीय स्तर पर किये जाते हैं, सारी प्रक्रिया इतनी केन्द्रित होती है कि निम्न स्तरीय क्षेत्रीय इकाइयों का काम सिवा योजनाओं को कार्यान्वित करने के और कुछ नहीं होता। भारतवर्ष में लम्बे काल तक योजना का ढंग प्रायः केन्द्रित और एक स्तरीय खंडात्मक अर्थात 'सेक्टोरल' ही रहा है। इसके विपरीत बहु-स्तरीय योजना प्रणाली को चलाने के लिए, राष्ट्रीय स्थल को छोटे-छोटे क्षेत्रीय भागों में विभाजित करना पड़ता है। इनकी संख्या देश के आकार, विस्तार और इसकी प्रशासनिक, भौगोलिक तथा प्रादेशिक संरचना पर निर्भर करती है।

प्रादेशीयकरण वह प्रक्रिया है जिसमें किसी बड़े स्तर के प्रदेश को छोटे प्रदेशों में बांटते हैं, अथवा छोटे स्तर के प्रदेशों को मिलाकर एक बड़ा प्रदेश बनाते हैं। इसका निर्माण कुछ मान्य विशेषताओं की एकरूपता के आधार पर मध्यवर्ती क्षेत्र तथा पृष्ठ-प्रदेश के बीच अथवा विभिन्न स्तर के केन्द्र बिन्दुओं के मध्य कार्य प्रणाली की आपसी निर्भरता के आधार पर होता है। विकासशील नियोजन के लिए यह दृष्टिकोण विभिन्न प्रदेशों के बीच आर्थिक विषमताओं को कम करने में सहायक है। स्थानीय क्षेत्रों से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक के प्रत्येक प्रदेश और अलग-अलग प्रकार के प्रदेशों में, सोचने का यह ढंग, भौतिक, आर्थिक और सामा-जिक लक्ष्यों के समाकलन पर यथेष्ठ बल देता है।

भारत में आर्थिक प्रादेशीयकरण सन् 1956 से कई एक समाज शास्त्रियों का ध्यानाकर्षण कर रहा है जब हमारे योजना आयोग ने योजना प्रदेशों की आवश्यकता अनुभव की। कुछ समय बाद, यह भी अनुभव किया गया कि देश भर के लिए अन्तर्राज्यीय, राजकीय, अन्तर जिला, जिला, और ग्रामीण खण्ड अर्थात महानगर के स्थानीय स्तरों पर भी योजना प्रदेशों का निर्माण किया जाए। योजना प्रदेश के विचार को बहुत से ऐसे लाभप्रद आंकड़ों से सुदृढ़ किया गया है जो कई सालों के अध्ययन के बाद उपलब्ध हुए। लगता है कि यह निष्कर्ष हमारी आगामी पंचवर्षीय योजनाओं में प्रतिबिम्बित होंगे। अभी इस प्रयोग का आरम्भिक चरण है। परन्तु अपनी प्राकृतिक सम्पदा के संतुलित विकास के लिए इस प्रकार के आर्थिक प्रादेशीयकरण की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इससे परिवहन व्यवस्था को संगठित करने,

स्थानीय स्तरों पर क्षेत्रीय योजना बनाने और इस प्रक्रिया में जन-मानस को सीधे सम्मिलित करने में सहायता मिलेगी।

प्रादेशीय असमानता तथा संतुलित प्रादेशीय विकास

अंग्रेजी शासन काल में हमारी, खनिज तथा औद्योगिक सम्पदा के विकास ने कुछ छोटे क्षेत्रों तथा गिने चुने जलपोताश्रय नगरों के आस-पास ही कुछ विशेषीकरण प्राप्त किया था। उस समय इस व्यवस्था से अंग्रेजी साम्राज्य तथा उपनिवेशीय भारत के मध्य, आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमें एक बहुत बड़ा भारतीय भू-भाग ऐसा मिला जिसमें अविकसित आर्थिक व्यवस्था थी और अपेक्षाकृत विकसित छोटे-छोटे भूक्षेत्र कुछ एक ही थे।

महानगरीय प्रकार के आर्थिक प्रदेशों में एक भी उत्पादन चक्र उद्योगों की स्थापना करते समय पूरा नहीं किया गया था। यहां भारी अथवा ऐसे आधारभूत उद्योग भी विद्यमान नहीं थे जो उत्पादन प्रणाली में एक मुख्य कड़ी का काम देते। यहां तक कि 1961 के विकास स्तरों के मानचित्र (चित्र सं० 31) का अवलोकन भी इतनी अधिक विषमता को स्पष्ट दर्शाता है। विकास के लक्षण केवल इने-गिने केन्द्र बिन्दुओं के समीप दिखाई देते हैं जहां से इनका विस्तार पृष्ठ प्रदेश में बहुत कम हुआ है। किसी एक राज्य या प्रदेश में भी विकास के लाभों का वितरण एक समान नहीं है। पंजाब, दिल्ली के मैदानी भाग, आसाम-घाटी, दक्षिणी प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग, बम्बई, प० बंगाल तथा काठियावाड़ के तटों से कुछ दूर अन्दर तक के भागों को छोड़ कर बहुत कम क्षेत्र ऐसे हैं जहां कुछ उच्च स्तर का आर्थिक विकास हुआ हो। निम्न से मध्यम स्तरीय विकास उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों, हिमालय क्षेत्र, पश्चिमी राजस्थान, पूर्वी, मध्य तथा दक्षिणी पठारी भारत के बहुत से भागों में दिखाई देते हैं। इससे भी अधिक मानचित्र को देखने से यह मालूम होता है कि थोड़ी-थोड़ी दूरी पर भी आर्थिक-प्रादेशीय विषमताएं विद्यमान हैं। यदि नगरीकरण तथा उद्योगीकरण के संबंधित स्वरूप को समझा जाये तो ऐसा लगता है कि विकास स्तरों का नियंत्रण इन्हीं से होता है। आय और रोजगार की विकास दरों में ऐसी विषमताएं दो कारणों से उत्पन्न होती हैं। एक तो प्राकृतिक सुविधाओं पर आधारित आर्थिक व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास है जैसा कलकत्ता व बंबई के महानगरों में हुआ। दूसरा प्राकृतिक सम्पदा का असमान वितरण है जैसा कि खनिज लोहे और कोयले के विषय में देखने को मिलता है। यह असमानतायें सभी सम्भव स्तरों पर औद्योगिक तथा अन्य क्रियाओं को संगठित करके सुनियोजित करने से कम की जा सकती हैं। ऐसा करने पर भी यद्यपि वह क्षेत्र जो प्राकृतिक सम्पदा में धनी हैं अथवा जहां प्राकृतिक तत्व अधिक सहायक हैं, अन्य प्रदेशों में इस प्रगति में आगे रहेंगे, फिर भी विभिन्न आर्थिक खण्डों की आर्थिक असमानता का अन्तर कम किया जाना अनिवार्य है। एक सन्तुलित प्रादेशीय विकास की उद्देश्यपूर्ति का अर्थ हर कहीं विकास की एक समान गति नहीं है। अपितु इसका उद्देश्य यह है कि कोई भी प्रदेश अपने विकास में निर्धारित न्यूनतम राष्ट्रीय स्तर से नीचे न रहे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समय से हमारा अधिक ध्यान इसी पर जा रहा है कि नये उद्योग बड़े संस्थान अविकसित क्षेत्रों में स्थापित किये जायें, जिससे इन प्रदेशों की आर्थिक स्थिति गतिमान हो। किंतु मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार अथवा महानगरों से दूर के ऐसे भागों में बहुत-सा विस्तृत क्षेत्र अभी भी अपने पिछड़ेपन की पूर्ववत् स्थिति में है। यहां के केवल थोड़े से विकसित भाग इस आर्थिक शिथिलता की विशालता से घिरे दूरस्थ द्वीपों के समान दिखाई देते हैं। इसका अपवाद केवल पंजाब है जो अभी हाल में ही इतना ऊपर उठा है कि देश में वहां सबसे अधिक प्रति व्यक्ति आय है। पिछले दशकों में पंजाब में कृषि के महान विकास ने लघु उद्योगों को बढ़ावा देकर समाकलित क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहन किया है।

बहु-स्तरीय-प्रदेश—सिद्धांत तथा वर्गीरकण

बहु-स्तरीय प्रदेशों की रचना के लिए निम्न स्तरीय प्रादेशीय योजनाएं उच्च-स्तरीय प्रादेशीय योजनाओं का आधार मानी जाती हैं। उच्च-स्तरीय प्रदेश भी मध्य-स्तरीय प्रदेशों को निश्चित करने के लिए एक ढांचा प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक स्तर पर ऐसे प्रदेशों में कुछ संभाव्य और कुछ एक विद्यमान संसाधन होने अपेक्षित हैं जिससे उच्चतम विकास का लक्ष्य कम-से-कम समय में प्राप्त किया जा सके। परन्तु भारत का राज्यों, जिलों तथा तहसीलों इत्यादि में प्रशासनिक विभाजन ऐसी योजना व्यवस्था के लिए समुचित क्षेत्रीय इकाइयां प्रदान नहीं करता। कितनी ही बार पर्याप्त सम्पदा किसी एक प्रशासनिक क्षेत्र में न मिलकर एक विस्तृत भू-भाग पर पाई जाती है जो कई एक प्रशासनिक इकाइयों के अंतर्गत आता है। पड़ोसी राज्यों अथवा जिलों में स्थित क्षेत्रों में कई बार समान सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियां होती हैं। यह मान्यतायें इन प्रदेशों के आर्थिक विकास के मार्ग नियोजन के लिए महत्वपूर्ण होती हैं। साथ ही साथ हम इस बात की अवहेलना नहीं कर सकते कि अपने इतिहास के वर्तमान चरण में भारत के यही प्रशासनिक प्रदेश, योजना निर्माण की नीतियों को लागू करने के लिए स्थलीय-आधार प्रदान करते हैं, विशेषकर हमारे विकास के इस स्तर पर।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के क्षेत्रीय तन्त्र की क्रमबद्धता को निर्धारित करने का अर्थ यह है कि देश के हर एक भाग की समस्त उत्पादन शक्तियों को वहां के संसाधनों से प्रयोग में लाने के लिए तथा इनका समुचित वितरण करने के लिए विकास कार्यों के विभिन्न स्तरों पर बांट दिया जाये। एक आर्थिक प्रदेश को दूसरे आर्थिक प्रदेशों से अलग करके इनकी सीमा निर्धारित करने के लिए बहुत-सी विधियों का प्रयोग किया गया है।
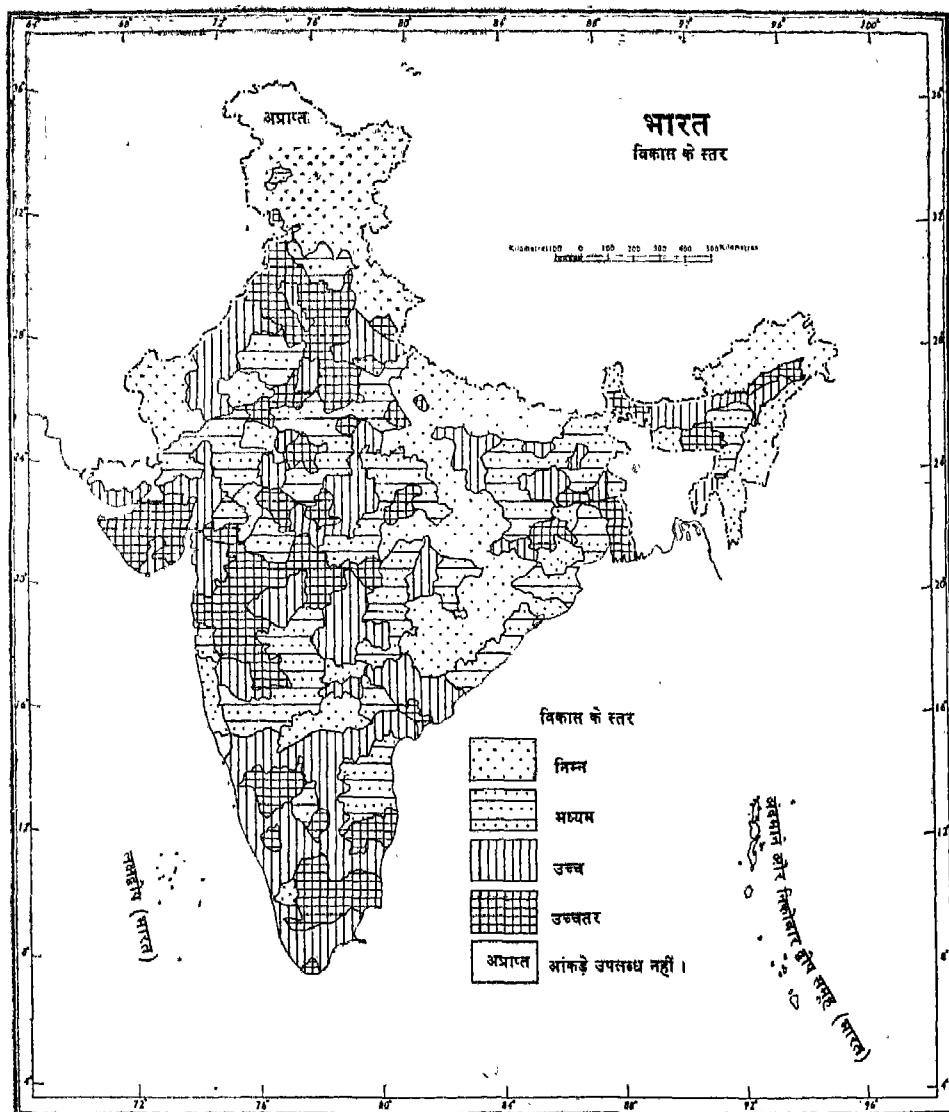
आइये सर्वप्रथम हम आर्थिक प्रदेशों की रचना करने के लिए कुछ मुख्य बातों का उल्लेख सारांश-रूप में कर लें।

1. भौतिक संरचना और मानव जीवन की अन्त: क्रियाओं के आधार पर बने देश के प्राकृतिक प्रदेशों का पुन: परीक्षण।
2. ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रदेशों को अंकित करना।
3. भौतिक सम्पदा के वितरण तथा भारत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक विभाजन का अतिव्यापन।
4. वर्तमान्य राजनैतिक, सामाजिक और भूमि सुधार व हरित क्रांति इत्यादि प्रक्रियाओं के प्रादेशिक स्वरूप।
5. समान, कुशल कारीगरों सेवाओं तथा लोगों के विचार विनिमय से बने स्थलीय स्वरूप।
6. यह अधिक अच्छा होगा कि विभिन्न स्तरों के नियोजन प्रदेशों का ढांचा प्राप्त करने के लिए निम्नतम् स्तर के प्रदेश सबसे पहले चुने जाएं और इसके बाद इनका समूहीकरण तथा पुन: समूहीकरण हो।
7. प्रादेशिक सीमाएं—चाहे अल्पार्थक स्तर की हों या विस्तृत स्तर के प्रदेशों की, विभिन्न स्तर के प्रदेशों के बीच से होकर नहीं जानी चाहिए।
8. प्रशासनिक (राजनैतिक) मानचित्र ध्यान में रखने चाहिएं।

आर्थिक योजनाओं के विस्तृत, मध्यम व अल्पार्थक स्तरों के तीनों प्रकार के बड़े, बीच के और छोटे आकारों के प्रदेशों की विशेषताओं तथा मुख्य उद्देश्यों को निर्धारित करने में उपरोक्त विचार हमारे लिए बहुत उपयोगी हैं।

विस्तृत प्रदेश

विस्तृत स्तर के प्रदेश, स्तर में सबसे उच्चतम हैं, बहुत से अन्तरर्राज्यीय भी हैं जहां कई एक राज्य अपनी किसी समस्या का सर्व सम्बन्धित समाधान खोजने में व्यस्त होते हैं। इस स्तर पर

चित्र 31 विकास के उन चार स्तरों पर ध्यान दो जिनके अन्तर्गत भारत के जिलों को वर्गीकृत किया गया है। विकास कुछ केन्द्रों के ही चारों ओर सीमित है और इसके लाभ समान रूप से प्रत्येक प्रदेश या राज्य में नहीं महसूस किए जा रहे।

सम्पदा का विकास बहुत बड़े स्तर पर विचाराधीन रहता है, जैसे नदी बेसिन, सिंचाई व्यवस्था अथवा शक्ति व आवागमन के साधनों के विकास की परियोजनाओं के संबंध में। इस प्रकार के अन्तर्राज्यीय योजना प्रदेशों में जिन संभावनायों का होना जरूरी है, वह हैं उनकी पर्याप्त उत्पादन-क्षमता, खाद्य-पदार्थों में अपेक्षित आत्मनिर्भरता, और आवश्यक ऐसे भारी-भरकम सामान तथा समाप्त होने वाले सामान की आपूर्ति सामर्थ, जो इन वस्तुओं पर रेल भाड़े को कम कर सके।

सर्वमान्य समस्याओं तथा आवश्यकताओं के बावजूद इस प्रकार के प्रदेश में भौगोलिक स्थितियों व सम्दाओं की विभिन्नताएं देखी जा सकती है।

निम्न स्तरों पर योजना का आपसी ताल-मेल इसी स्तर के प्रदेश पर किया जाता है। इसलिए प्रत्येक विस्तृत-स्तर का भू-भाग देश की महत्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं के समाधान में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रकार का प्रदेश अपनी सीमाओं के अन्दर आवश्यक सम्पदा तथा शक्ति साधनों में युक्त होता है। इसलिए पूर्ण आर्थिक विकास की रूपरेखाओं को निर्धारित करने की इस प्रदेश में क्षमता रहती है। ऐसे प्रत्येक प्रदेश में एक से अधिक विद्यमान अथवा संभावित औद्योगिक संस्थान होने चाहिएं जो सुनिश्चित शक्ति साधनों पर आधारित हों। इन्हीं की अवस्थिति सारे प्रदेश के लिए ऐसे केन्द्रीय स्थानों का काम देती है जो मध्य स्तरीय नगर विकास केन्द्रों से भी जुड़े होते हैं।

ऐसे विस्तृत-स्तरीय-प्रदेश की सीमाएं मध्यम-स्तरीय प्रदेशों (द्वितीय श्रेणी के प्रदेशों) को एक साथ इकट्ठा करके निश्चित करते हैं जिनके विषय में आगे विचार किया जाएगा। स्पष्ट है कि यह एक ऐसा विस्तृत प्रदेश होगा जो एक से अधिक उत्पादन संकुलों का कालान्तर में विकास करेगा। इसमें से एक से अधिक राज्यों के अनेक जिले, कुछ प्रमुख औद्योगिक अथवा नगरीय क्षेत्र एक अनिवार्य संसाधन आधार कुछ एकता स्थापित करने वाले ऐसे तत्व होते है जो आर्थिक गतिविधियों का समाकलन करने में सहायक हैं।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में सिंचाई, जलशक्ति, और आवागमन के साधनों का संगठित विकास प्रदेश की उत्पादकता को बढ़ाता है। इसी कारण एक ही नदी के बेसिन में स्थित मध्यम-स्तर के प्रदेशों को प्रायः मिलाकर विस्तृत प्रदेश बना लिये जाते हैं।

मध्यम-स्तरीय प्रदेश

द्वितीय श्रेणी के मध्यम-स्तरीय आर्थिक प्रदेश बहुत-सी अल्पार्थक स्तर की प्रदेशिक इकाइयों (तृतीय श्रेणी प्रदेश—सबसे निम्न स्तर पर) को मिलाने से उत्पन्न होते हैं। एक ओर अल्पार्थक क्षेत्रों को इस प्रकार जोड़ा जाता है कि उनसे मध्यम स्तर का ऐसा प्रदेश बने जहां प्राकृतिक कारकों और सम्पदाओं की एकरूपता हो और जो एक या एक से अधिक राज्यों के कुछ एक जिलों पर सम्मिलित हो। दूसरी ओर विस्तृत प्रदेशों के उप भाग करने से भी इन मध्यम-स्तरीय प्रदेशों की रचना की जा सकती है।

इन प्रदेशों में भौगोलिक पर्यावरण की एकरूपता, स्थानीय, क्षेत्रीय और कुछ मुख्य राष्ट्रीय आवश्यकता पूर्ति के लिए संसाधनों की संभावना होती है विस्तृत-स्तर के छोटे विभागों के रूप में मध्यम-स्तरीय विभाग उस क्षेत्र की सम्पदा के प्रभावशाली शोषण, उपयोग तथा संरक्षण के लिए एक प्राथमिक इकाई हैं। यह अनिवार्य है कि ऐसी हर एक इकाई में न्यूनतम आर्थिक जीवन क्षमता हो और लोगों को भोजन तथा जीवनयापन के अवसर देने के लिए एक समुचित उत्पादन स्वरूप का सृजन करने की संभावना हो। देश के ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक स्वावलम्बन अर्थात जीवन क्षमता का निर्धारण प्रति व्यक्ति, काम में आ सकने वाली भूमि के अनुपात से किया जा सकता है।

अपनी विभिन्न प्रकार की उत्पादन क्रियाओं से किसी न किसी प्रकार की विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए यह एक बहु-उद्देश्य इकाई है। इस लक्ष्य पूर्ति के लिए मध्य-स्तरीय प्रदेश में कम से

कम एक राष्ट्रीय महत्व का उत्पादन चक्र होना चाहिए। यह प्रदेश के मुख्य विकास केन्द्र में स्थित होता है जो उप-प्रादेशीय स्तरों के विकास बिन्दुओं से जुड़ा होता है।

इसी कारण यह जरूरी हो गया है कि कभी-कभी दो-पृथक् भौतिक क्षेत्रों को भी एक ही मध्यम-स्तरीय प्रदेश के अन्तर्गत रख दिया जाये यदि वह दोनों समीपवर्ती हों और उनकी अर्थ-व्यवस्था एक दूसरे की पूरक हो। केरल की तटीय पट्टी को उसके साथ लगे अर्द्ध पहाड़ी बगीचा-कृषि के ज़िलों के साथ इकट्ठा कर दिया गया है क्योंकि दोनों के आर्थिक साधन एक-दूसरे के पूरक होकर सारे प्रदेश को विशिष्ट लक्षण प्रदान करते हैं। इसी प्रकार एक भू-भाग के पिछड़े हुए प्रदेश को उसके साथ के अपेक्षाकृत विकसित भू-भाग के साथ मिला दिया जाता है जिससे इस पूर्ण इकाई के लिए एक सुदृढ़ आर्थिक आधार प्राप्त किया जा सके। इसीलिए आंध्र प्रदेश में तेलंगाना को कृष्णा-गोदावरी के तटवर्ती मैदानों के साथ रखा गया है ताकि अर्द्ध-विकसित तेलंगाना क्षेत्र को और आर्थिक सुदृढ़ता दी जा सके।

अल्पार्थक प्रदेश
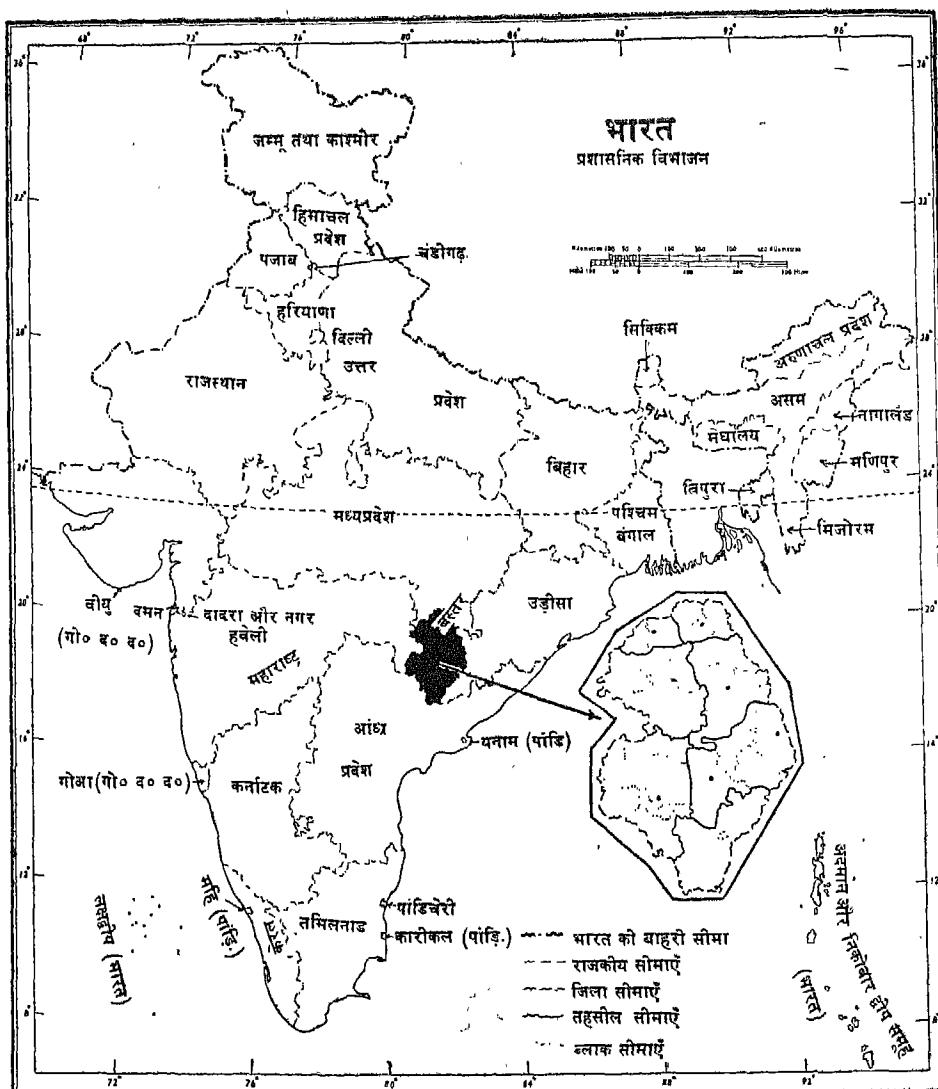
तृतीय श्रेणी के अल्पार्थक प्रदेश आकार में सबसे छोटे तथा विकास योजना के निम्नतम स्तर से संबंधित हैं। यह एक ज़िले से कम क्षेत्र, कुछ तहसीलों अथवा ग्रामीण इलाके में सारे विकास खण्ड या इसके कुछ भाग पर सम्मलित होता है। गांवों का एक समूह एक केन्द्रीय गांव से जुड़ा होता है और कुछ सेवा केन्द्र इन्हें न्यूनतम सुविधायें पहुंचाते हैं। अंत में यही सेवा केन्द्र अल्पार्थक प्रदेश के विकास संभाव्य विकास बिन्दु सिद्ध होते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना छोटा-बड़ा पृष्ठ क्षेत्र होता है। यह सब पृष्ट क्षेत्र मिलकर एक अल्पार्थक प्रदेश का निर्माण करते हैं। ऐसे प्रदेश एक बड़े नगर अर्थात महानगर, पिछड़े हुए ग्रामीण अथवा जनजातीय क्षेत्रों पर सम्मिलित भी हो सकते हैं, जिन में प्रत्येक की अपनी विशेष समस्याएं होती हैं। संक्षेप में कोई भी प्रदेश चाहे किसी मध्यवर्ती केन्द्र के आस-पास, इसकी सीमाओं पर अथवा किसी दूरगामी भाग में स्थिति हो, अल्पार्थक स्तर का अध्ययन क्षेत्र बन सकता है। शर्त केवल यही है कि ऐसे समस्त प्रदेश में स्थानीय जन-समुदाय की पूरी रुचि हो अथवा इसकी कोई ऐसी सांझी समस्या हो जो मूलभूत नियोजन के मार्ग में सब पारस्परिक संघर्षों को मिटा दे।

जिला अथवा तहसील क्षेत्र तक को छोटे विकास-खण्डों में विभक्त करने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब स्थानीय सीमाओं के अन्दर भी परिस्थितियों की विविधता या संघर्ष मूलक समस्याएं देखने को मिलती है। भारत को 5000 से अधिक खण्डों में बांटने का उद्देश्य यही था कि अपने ग्रामीण क्षेत्र में हम निम्नतम स्तर की योजना इकाई को लक्षित कर पायें। ऐसे हर एक खण्ड में लगभग 100 गांव और 60 से 70 हजार तक की आबादी होती है। यद्यपि अल्पार्थक प्रदेश सबसे छोटे तथा राष्ट्रीय नियोजन की सीढ़ी के निम्नतम स्तर होते हैं, फिर भी ये देश के आर्थिक विकास से परिवहन के साधनों, मौलिकत था अमौलिक सेवाओं, औद्योगिक संकुलों, और जनसंख्या सम्बन्धी तत्वों के महत्व को निर्धारित करने के लिए महत्वपूर्ण हैं। इनकी संख्या, क्योंकि बहुत अधिक है इसलिए अल्पार्थक प्रदेशों की कोई सूची आसानी से नहीं बनाई जा सकती। केवल सामान्य संकेत देने के लिए, भारत के प्रशासनिक विभाजन को राज्यों से लेकर निम्नतम विकास खण्डों के स्तर तक, उदाहृणार्थ यहां दिखाया गया है। (चित्र सं० 32) कस्बों और नगरों के लिए भी आवश्यकतानुसार वृहत्त योजनाएं (मास्टर-प्लान) उनके विकास के लिए तैयार की जाती है।

मध्यम-स्तरीय प्रदेशों के अंग के रूप में, अल्पार्थक-स्तरीय क्षेत्रीय नियोजन प्रथम तथा द्वितीय स्तर के प्रदेशों सुगठित अर्थव्यवस्था बनाने के लिए सर्वाधिक व्यवहारिक आधार प्रदान करता है।

अपने अगले अध्याय में कुछ विशिष्ट-अध्ययन किए गए हैं जिनसे आप विभिन्न प्रकार के प्रदेशों
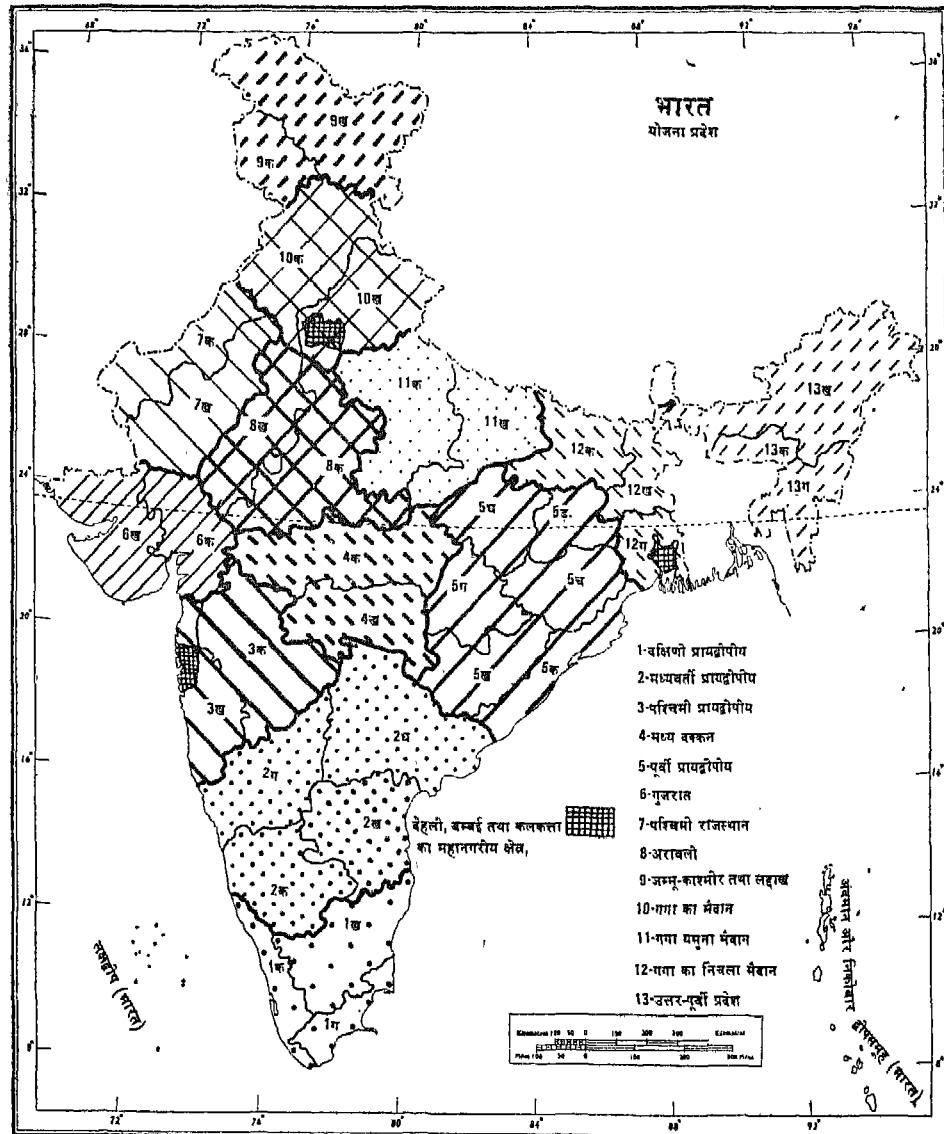
मानचित्र-32

चित्र-32 ग्राम स्तर से राष्ट्र तक की प्रशासनिक इकाइयों के भिन्न-भिन्न स्तरों पर ध्यान दो। राज्यों की संख्या पर ध्यान दो और पता लगाओ कि देश को कितने जिलों, तहसीलों और विकास खंडों में विभाजित किया गया है।

मानचित्र-33

चित्र-33 योजना के उद्देश्य से देश को कितने प्रमुख आर्थिक प्रदेशों में विभाजित किया गया है। उस विस्तृत स्तरीय प्रदेश को खोजो जिसे सबसे अधिक मध्यम स्तरीय प्रदेशों में बांटा गया है। प्रादेशिक विभाजन की इस योजना का अवमूल्यन करो।
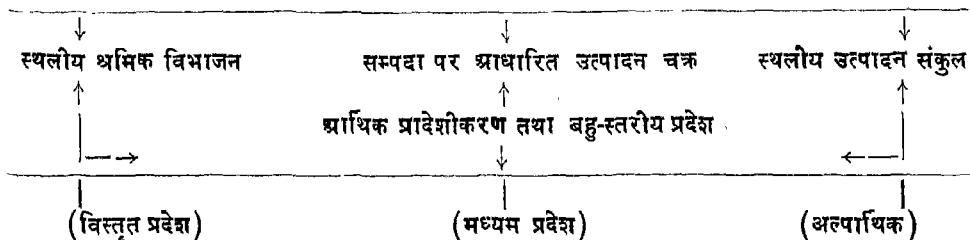
की सामान्य परिस्थितियों, प्राकृतिक और मानवीय सम्पदाओं का वितरण, और इनकी अनेक समस्याओं को जान सकें। यह विवेचना इस आशय को महत्व प्रदान करती है कि स्थलीय नियोजन की प्रक्रिया को लगातार प्रत्येक क्षेत्रीय स्तर पर कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। देश के ऐसे समुचित विभाजन के लिए विभिन्न विद्वानों के व्यक्तिगत निर्णयों के स्थान पर एक सर्वमान्य दृष्टिकोण व पद्धति अपनाने के लिए प्रादेशीय विभागीकरण के सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा रहा है। ऐसी वर्गीकरण योजना को बनाने के लिए जो वस्तु-स्थिति के निकट हो, पिछले दो दशकों में कई एक प्रादेशिक स्कीमें सामने आई हैं। हम यहां पर इन सब वर्गीकरण योजनाओं के नामांकन और मूल्यांकन में न उलझ कर केवल एक ही ऐसी प्रणाली की चर्चा विस्तार से करते हैं। यह स्कीम भारत के योजना प्रदेशों के मान चित्र सहित आधुनिकतम प्रयासों पर आधारित है।

(देखिए चित्र 33) इसमें सारे देश के लिए 13 विस्तृत और 35 मध्यम-स्तरीय प्रदेशीय इकाइयाँ प्रस्तावित की गई हैं। प्रत्येक विस्तृत स्तरीय प्रदेश में, क्षेत्रीय परिस्थितियों के अनुरूप दो से लेकर छः तक मध्यम स्तरीय प्रदेश हैं। "योजना प्रदेश" के मूल विचार और इसके बहु-स्तरीय विभागों की सक्षमताओं को भली प्रकार जानने के लिए आगे दिया अनुबंध और सारिणी सं० 12 बहुत सहायक सिद्ध होंगे।

अनुबन्ध
आर्थिक/योजना प्रदेशों के नये आधार

प्रथम स्तर के प्रदेश। इनमें प्राकृतिक दशाओं की विविधता, परन्तु सांझी आवश्यकताएं और समस्याएं, अन्न तथा कुछ एक औद्योगिक कच्चे माल में स्वावलम्बन, शक्ति-आधार, परिवहन व्यवस्था, संसाधनों के विकास, उत्पादन संकुलों और समग्र आर्थिक प्रगति के लिए विकास-केन्द्रों की संभावना पाई जाती है।

द्वतीय स्तर के ऐसे प्रदेश जिनमें कई एक निम्न-स्तरीय अल्पार्थिक प्रदेश होते हैं। यह संसाधनों के लाभप्रद उपयोग और कई उत्पादक क्रियाओं द्वारा उनकी विशेषज्ञता प्राप्त करने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं। इनमें न्युनतम आर्थिक जीवन क्षमता और लोगों की भोजन तथा जीवकोपार्जन आवश्यकताओं को पूरा करने की संभावनाएं होती हैं। भौगोलिक रूप से दो भिन्न परन्तु समीपवर्ती क्षेत्रों को भी ऐसे एक ही प्रदेश के अंतर्गत रखा जाता है यदि इनके आर्थिक साधन एक दूसरे के पूरक और आर्थिक स्तर भिन्न हों।

तृतीय स्तर के आकार में सबसे छोटे। इनमें प्राकृतिक दशाओं की समरूपता, सांझा जब समुदाय हित पाया जाता है और आपसी हित-संघर्ष का अभाव होता है। इनके द्वारा स्थानीय ग्रामीण क्षेत्रों, महा-नगरीय प्रदेशों अथवा परिवहन मण्डलों का सुनियोजन करने के उपाय सोचे जाते हैं।

तालिका-12
भारत के योजना-प्रदेश

विस्तृत-स्तरीय प्रदेश तथा उसमें आने वाले राज्य जिले	प्रमुख औद्योगिक और नगरीय क्षत्र	संगठित विकास के लिए सम्पदा	एकता स्थापित करने वाले तत्व
1	2	3	4
1. दक्षिण प्रायद्वीप (केरल व तमिलनाडु प्रदेशों के जिले)	कोयम्बटूर कोचीन मद्रास	तटीय मछलीगाहें, कृषि खनिज, कोयम्बटूर पठार की सम्पदा। वन और बागीचा कृषि पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर तथा मैदानों में कृषि। जल सम्पदा सिंचाई तथा जल-विद्युत के लिए उपलब्ध। तापीय तथा अणु शक्ति साधन।	आवागमन साधनों के माध्यम से प्राकृतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध। परिवहन मार्गों के द्वारा एकीकरण।
2. मध्यवर्ती प्रायद्वीप (कर्नाटक, गोवा तथा प्राय: सारा आंध्र प्रदेश)	हैदराबाद बंगलौर गोवा	तटीय मछलीगाहें, आंध्र के मैदानों की कृषि। कर्नाटक व गोवा का लोहा, मैंगनीज, बोक्साइट, सिंगारानी का का कोयला। मालवाद व कुर्ग के बागीचे। जल सम्पदा।	तुन्गभद्रा बहु-उद्देशीय योजना, शक्य औद्योगिक विकास द्वारा एतिहासिक व सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन।
3. पश्चिमी प्रायद्वीपीय (पश्चिमी महाराष्ट्र इसके तटीय तथा आंतरिक जिले)	बम्बई पुणे शोलापुर नासिक	तटीय मछलीगाहें कपास खनिज भंडार, लौह तथा अलौह खनिज। जल तथा अणु शक्ति साधन।	बम्बई पोताश्रय का पृष्ट प्रदेश, तथा महानगरीय केन्द्र, आर्थिक व सामाजिक घनिष्ट एकता।
4. मध्य-दक्खन (पूर्वीय महाराष्ट्र, मध्य तथा दक्षिणी मध्य प्रदेश)	नागपुर	उद्यान, कपास, लौह-खनिज (धान्दा) कृषि तथा औद्योगिक विकास नर्मदा जल साधन तथा सतपुड़ा तापीय विद्युत संभावना।	प्राकृतिक बनावट व मिट्टी की एक रूपता, तथा विकास के लिए बाह्य तत्वों के लिए अपेक्षाकृत कम प्रभाव की प्रभावशीलता।

1	2	3	4
5. पूर्वी-प्रायद्वीपीय (उड़ीसा, दक्षिणी बिहार, पूर्वी मध्य प्रदेश उत्तर-पूर्वी आंध्र प्रदेश और समीपवर्ती पं० बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के क्षेत्र)	राउरेकला जमशेदपुर, आसनसोल, भिलाई, दुर्गापुर, सम्भलपुर, कटक, विशाखापटनम्	तटीय मछलीगाहें कोयला, लोह खनिज, मैंगनीज, बोकसाइट, अभ्रक, बन महानदी घाटी में कृषि, जल तथा तापीय विद्युत विकास, इस्पात के तथा अन्य आधारभूत उद्योग।	सम्पदा का पुरकता के रूप शीघ्रता से विकसित तटीय पट्टी द्वारा इधर-उधर भेजना।
6. गुजरात (गुजरात राज्य)	अहमदाबाद, बदोदरा, सूरत, पोरबन्दर	पेट्रोल-रसायन, नमक, चूने के पत्थर, बोक्साइट, सिंचित कृषि का विकास (नरमदा), मछली।	आवागमन के साधनों के माध्यम से सम्बन्ध व सांस्कृतिक एकता।
7. पश्चिमी राजस्थान	जोधपुर, बिकानेर, श्रीगंगा नगर	लिगनाइट कोयला, जिप्सम चूने का पत्थर, मूल्यवान पत्थर, खनिज-तेल और अणु शक्ति विकास की सम्भावना, पशुपालन व सिंचित कृषि (राजस्थान नहर)	प्राकृतिक, जलवायु संबन्धित स्थितियों में उच्च स्तर की समानता राजस्थान नहर का विकास, सामाजिक व सांस्कृतिक संबंध।
8. अरावली प्रदेश (पूर्वी राजस्थान और पश्चिम मध्य प्रदेश)	कोटा, जयपुर अजमेर	अलौह धातुएं, शीशा, निक, तांबा, अभ्रक, चूने का पत्थर, संगमरमर, नमक, पशुपालन व सिंचित कृषि (चम्बल योजना), जल तथा अणु शक्ति	एतिहासिक व सांस्कृतिक संबंध जो राजपूत वंशों द्वारा रखाए गए।
9. जम्मू-काश्मीर और लद्दाख	श्रीनगर	वन-सम्पदा, फलों का उद्योग व पर्यटन उद्योग। जल शक्ति विकास।	प्राकृति, सामाजिक व सांस्कृतिक एकता। सीमा-मनोविज्ञान
10. ट्रांस गंगा का मैदान और पहाड़ियों (पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिले)	दिल्ली, मेरठ लुधियाना, चण्डीगढ़	पंजाब के मैदान में उच्च प्रकार की सिंचित कृषि का विकास गेहूं कपास, गन्ना, तथा चारे की फसलों के लिए, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिलों में कृषि उद्यानों तथा वनों	उपजाऊ भूमि, साहसी लोग, सामाजिक, सांस्कृतिक व एतिहासिक एकता, क्षेत्र। प्रदेश संक्रमण-क्षेत्र है।

1	2	3	4
		पर आधारित विकास, पर्यटन, जल विद्युत उत्पादन तथा सिंचाई।	
11. गंगा-यमुना का मैदान (पूर्वी, मध्य तथा दक्षिण पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उत्तरी मध्य प्रदेश के जिले)	कानपुर आगरा वाराणसी इलाहाबाद लखनऊ	गंगा के मैदान की कृषि सम्बन्धी सम्पदा, (गन्ना चावल, गेहूं) मध्य प्रदेश वन क्षेत्र तथा कृषि संबंधी उद्योगों तथा विद्युत विकास की संभावना	तुलनात्मक सामाजिक स्थिरता, गंगा-यमुना का सांस्कृतिक प्रभाव
12. गंगा का निचला मैदान (प्रायः समस्त पश्चिमी बंगाल तथा उत्तरी बिहार)	कलकत्ता, पटना बरौनी	मैदानों में कृषि, (चाय, जूट, राष्ट्रीय स्तर पर) बरौनी क्षेत्र में खनिज तेल रासायन उद्योग सम्भावना जल तथा तापीय विद्युत।	आर्थिक पूरकता व आपसी सम्बन्ध तथा बंदरगाह का पृष्ठ प्रदेश पर प्रभाव विस्तृत भाग में सामाजिक व सांस्कृतिक एकता।
13. उत्तरी-पूर्वी प्रदेश, (असम, अन्य उत्तर-पूर्वी राज्य और संघीय क्षेत्र तथा उत्तरी बंगाल के पहाड़ी जिले।	डिगबोई, गोहाटी, शिलोंग, तिनसुखिया,	चाय, पटसन, खनिजतेल सिल्लीमीनाइट, खनन व वन उपजें, जल विद्युत साधन, तापीय शक्ति।	आर्थिक अन्तर निर्भरता, सांस्कृतिक विभिन्नता, जो जनजातियों में सांस्कृतिक अन्तर निर्भरता को बढ़ाती है।

विस्तृत स्तरीय प्रदेशों का विभाजन

मध्यम-स्तरीय-प्रदेश	उपलब्ध सम्पदा	आर्थिक विशिष्टता
1	2	3
1. क केरल के जिले	बगीचे, टीक, नारियल, थोरियम, सम्भावित जल शक्ति।	बागीचा-अर्थ व्यवस्था तथा संबंधित उद्योग, मछली पकड़ना वनों पर आधारित उद्योग, जलपोत निर्माण व छोटे कलपुर्जे बनाना।
1. ख मद्रास कोयम्बटूर उद्योगिक प्रदेश	नवेली लिगनाइट लोह खनिज, मैगनेसाइट, कपास, नारियल, गन्ना, औद्योगिक महत्व की	छोटे यन्त्रकला उद्योग, मिट्टी के पात्र बनाना, सीमेंट, लोह-खनिज संबंधित उद्योगों

1	2	3
	रुपया प्रदान करने वाली फसलें।	की सम्भावना, कपड़ा, चीनी, तेल बीजों से तेल निकालना।
1. ग तामिलनाडु के तटवर्ती मैदानी ज़िले	चावल, कपास, ज्वार की खेती, समुद्री मत्स्य उद्योग नमक तथा चूने का पत्थर।	डेल्टा प्रदेश की खेती, कृषि उद्योग, मत्स्य तथा पर्यटन उद्योग।
2. क कर्नाटक के तटवर्ती और आन्तरिक औद्योगिकी प्रदेश।	वन, तथा जल शक्ति की धनी सम्पदा, बगीचे, लोह खनिज, मैंगनीज व सोना।	वनों पर आधारित उद्योग यन्त्रकला व वायुयान उद्योग।
2. ख रयालासीमा व तटवर्ती मैदानी प्रदेश	सम्भावित सिंचाई (तुंगभद्रा), सम्भावित लोह खनिज भंडार, मूल्यवान पत्थर।	सिंचित कृषि, मिलेजुले-फार्मउद्योग, छोटे यन्त्रकला उद्योग।
2. ग बैल्लारी-हांसपेट खनन उद्योगों का प्रदेश	लोह तथा अलोह खनिजों की बहुत अधिक सम्भावना (लोहा, मैंगनीज, बोक्साइट, चीनी-मिट्टी)	लोहा तथा स्पात उद्योग जीव सम्पदा उद्योग, सिंचित कृषि, (कृष्णा-घाटी-विकास योजना)।
2. घ तेलन्गाना तथा तटवर्ती मैदान	कोयला, जलशक्ति, लोह तथा अलोह खनिज, खाद्यान, तम्बाकू	नागार्जुन सागर बांध पर आधारित उद्योग, तटवर्ती मैदानों की घनी कृषि खाद्य पदार्थों की क्रिया, तम्बाकू उद्योग।
3. क कोन्कण और महाराष्ट्र का दक्खन ट्रैप कृषि उद्योग प्रदेश	शक्ति, कपास, फलउद्योग	कपास सम्बन्धी क्रिया, छोटे यन्त्रकला उद्योग, मत्स्य उद्योग।
3. ख बम्बई-दक्खन (मराठवाड़ा) कृषि-उद्योग प्रदेश	मुख्यतय: कपास व मोटे अनाज	कपास सम्बन्धी क्रिया, पर्यटन।
4. क नर्मदा-घाटी प्रदेश	कपास व मोटे अनाज	कपास सम्बन्धी क्रिया, भारी मशीनों के निर्माण के विकास के लिये नर्मदा सम्भावित शक्ति, उर्वरक मिट्टी के बर्तन, तथा रसायन।

1	2	3
4. ख खान्देश-बरार प्रदेश	कपास, कोयला, लोह्	कपास सम्बन्धी क्रिया, लोह्-अयस्क उद्योगों की सम्भावना।
5. क उत्तर-पूर्वी तथा तटवर्ती मैदान	मैगनीज खाद्यान की फसलें, मत्स्य उद्योग	कृषि (महानदी डेल्टा) कृषि उपजों सम्बन्धी कार्य, मत्स्य ।
5. ख दंडकारण्य	बन, लोह्-खनिज	वनों पर आधारित उद्योग, लोहा तथा स्पात।
5. ग महानदी-बेसिन	शक्ति, चावल	चावल भण्डार औद्योगिक विकास समीपवर्ती क्षेत्रों के खनिजों पर आधारित।
5. घ सोन-घाटी प्रदेश।	रिहन्द योजना का समीपस्थ, छोटा नागपुर के खनिज व शक्ति	खनिजों पर आधारित उद्योगों की सम्भावना।
5. ङ छोटा नागपुर औद्योगिक प्रदेश	शक्ति सम्पदा, लोह् तथा अलोह खनिज	भारी यन्त्रनिर्माण, कोयला व रासायन उद्योग।
5. च ब्राह्मणी औद्योगिकी प्रदेश	लोह् खनिज	धातुओं पर आधारित उद्योग।
6. क गुजरात का मैदान व पहाड़ियां	शक्ति सम्पदा, खनिज तेल, कपास में धनी	कपास संबन्धी क्रिया, पेट्रोल-रसायन उद्योग।
6. ख काठियावाड़-कच्छ प्रदेश	चूने का पत्थर, नमक, बोक्साइट, कपास, तिलहन	कपास संबन्धी क्रिया, जीव सम्पदा उद्योग, रसायन उद्योग, कच्छ क्षेत्र में सिंचाई।
7. क मरुस्थल-प्रदेश	जिप्सम, चूने का पत्थर, लिगनाइट, सिंचित कृषि, (विशाल राजस्थान नहर)	पशुपालन, कपास, गन्ना (सिंचित क्षेत्र में), जिप्सम, चूने के पत्थर, लिगनाइट पर आधारित उद्योग।
7. ख अर्ध-मरुभूमि प्रदेश	पशु-सम्पदा, संगमरमर	पशुपालन और सीमित कृषि।
8. क कोटा-औद्योगिक और चम्बल घाटी प्रदेश	शक्ति, अलोह धातु, चूने का पत्थर तथा नमक में सम्पन्न	अलोह धातु उद्योग, सिंचित कृषि (चम्बल योजना)।

1	2	3
8. ख जयपुर, उदयपुर मिश्रित कृषि प्रदेश	ताम्बा (खेत्री)	मिश्रित कृषि, पर्यटन।
9. क जम्मू	बन, फल उद्योग	बनों पर आधारित उद्योग तथा फल उत्पादन उद्योग।
9. ख उद्याख	,,	,,
10. क भाकड़ा-नंगल कृषि उद्योग क्षेत्र	उर्वरी भूमि गेहूं, गन्ना, चारे की फसलों की खेती, पहाड़ियों में फल उत्पादन	गेहूं-प्रधान कृषि, कृषि उत्पादन सम्बन्धी क्रिया, कपड़ा, छोटे कलपुर्जों का निर्माण उद्योग, पर्यटन।
10. ख दिल्ली-पश्चिमी उत्तर प्रदेश का मैदान तथा उत्तर प्रदेश का पहाड़ी प्रदेश	गेहूं, गन्ना, फल उत्पादन जल-विद्युत-शक्ति	कृषि, छोटे यन्त्र निर्माण उद्योग, पर्यटन कृषि सम्बन्धी उद्योग फल उत्पादन।
11. क कानपुर-आगरा औद्योगिक प्रदेश	गन्ना, कपास, गेहूं तिलहन	कृषि, कृषि पर आधारित, और छोटे यंत्र निर्माण उद्योग।
11. ख पूर्वी उत्तर प्रदेश-बघेल-खंड प्रदेश	गन्ना, गेहूं	कृषि, कृषि पर आधारित उद्योग।
12. क उत्तरी बिहार कृषि-उद्योग प्रदेश	चावल, गन्ना बरौनी खनिज तेल	कृषि पर आधारित तथा खनिज-तेल-रसायन उद्योग।
12. ख कलकत्ता-हुगली औद्योगिक प्रदेश	चावल, जूट शक्ति सम्पदा के समीपस्थाना	उच्च तकनीक दक्षता के उद्योग।
12. ग उत्तरी बंगाल का मैदानी प्रदेश	चावल उत्पादन	कृषि पर आधारित उद्योग।
13. क निचला ब्रह्मपुत्र शिलांग पठार प्रदेश	जूट, चाय, सिल्लीमनाइट फल-उत्पादन, बन-सम्पदा और कोयला	जूट की खेती, कोयला रसायन उद्योग।
13. ख ऊपरी-ब्रह्मपुत्र और पहाड़ी प्रदेश	चाय, खनिज तेल, लकड़ी, कोयला, प्राकृतिक गैस	प्राकृतिक गैस, और खनिज तेल-रसायन उद्योग।
13. ग पूर्वी पहाड़ियां और मैदानी प्रदेश	चाय, जूट, बन	बनों पर आधारित उद्योग।

भारत के प्रादेशीकरण की कोई ऐसी योजना अभी अंतिम नहीं मानी गई। पूर्णरूप से मान्य नहीं है। हर एक के अपने-अपने गुण व दोष हैं। उपरोक्त तालिकाएं, केवल इस धारणा की आवश्यकता तथा राष्ट्रीय योजना पद्धति में इसकी उपयोगिता को प्रकट करती हैं।

स्वाध्याय

पुनरावृत्ति प्रश्न

1. किसी देश की आर्थिक व्यवस्था, किस प्रकार से, बहु-स्तरीय तथा बहु-उद्देशीय व्यवस्था है ?
2. अन्तर स्पष्ट कीजिये—
   (i) प्रदेश तथा प्रदेशीयकरण
   (ii) क्रियात्मक तथा एकरूपता वाले प्रदेश ।
   (iii) श्रमिक शक्ति की ऊर्ध्वाधर तथा क्षैतिज गति
   (iv) समस्याओं वाला प्रदेश तथा आशाजनक प्रदेश
   (v) एक-स्तरीय तथा बहु-स्तरीय योजना प्रणाली ।
3. (i) किस प्रकार, कोई उत्पादन संकुल किसी भूभाग का समस्त आर्थिक भूदृश्य होता है ?
   (ii) पुराने औद्योगिक समुहों तथा नये उत्पादन संकुलों में क्या मुख्य अन्तर है ?
   (iii) प्रशासकीय विभागों को सदैव नियोजन प्रदेशों के रूप में भी क्यों नहीं लिया जा सकता ?
   (iv) भारत से, प्रादेशिक आर्थिक विषमताओं के कुछ उदाहरण दीजिये, तथा यह भी स्पष्ट कीजिये कि ये विषमतायें कैसे उत्पन्न हुईं ।
4. आर्थिक प्रदेशों की योजना बनाते समय किन-किन बातों को ध्यान में रखा जाता है ?
5. कहां तक उत्पादन चक्र किसी क्षेत्र की प्राकृतिक तथा आर्थिक संपदा के विकास में सहायक होते हैं । उदाहरणों से स्पष्ट कीजिये ।
6. संक्षेप में उत्तर दो :—
   (i) केरल के निचले पहाड़ी भाग तथा तटीय जिलों को एक साथ एक मध्यवर्ग के प्रदेश में क्यों रखा गया है ?
   (ii) तेलन्गाना को आंध्र के कृष्णा-गोदावरी जिलों में मिला कर एक नियोजन प्रदेश क्यों बनाया गया है ?
   (iii) एक आर्थिक प्रदेश बनाने के लिये, हिमालय प्रदेश के पहाड़ी भागों को पंजाब के मैदानी भागों के साथ क्यों मिलाया गया है ?
   (iv) श्रमिकों के स्थलीय विभाजन के लिसे योजना बनाने की क्यों आवश्यकता है ?
7. (i) आर्थिक योजना के लिये तीन स्तरीय प्रादेशिक विभाजन का विवरण दो । पूर्वी प्रायद्वीपीय बृहत प्रदेश को मध्य-स्तरीय प्रदेशों में कैसे बांटोगे ?
   (ii) तीनों प्रकार के प्रदेशों की आवश्यकताओं तथा क्रियाओं की सूचि तैयार करो ।
   (iii) लघु स्तर पर नियोजन किस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय स्तर के प्रदेशों के लिये आधार प्रस्तुत करता है ?

8. निर्माण की प्रक्रिया में कुछ मूलभूत कच्चे मालों के उपयोग तथा पुनः उपयोग के उदाहरण दीजिये ।

   उन उद्योगों के नाम बताओ जो सम्भवतः, किसी खनिज तेल के क्षेत्र के आस-पास, अथवा किसी अलौह धातुक के समीप स्थलीय उत्पादन संकुल के निर्माण के लिये, स्थापित हो सकते हैं ।

   स्वयं करो तथा ढूंढो ।

9. 'हमको, अपनी संपदाओं के लिये और अधिक उत्तम योजना बनाने के लिये, भारत को आर्थिक प्रदेशों में विभक्त करना चाहिये' इस विषय पर अपनी कक्षा में एक बाद विवाद प्रतियोगिता आयोजित करो ।

कुछ चुने हुए क्षेत्रों का विशिष्ट अध्ययन

(क) दामोदर घाटी

दामोदर नदी का बेसिन बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के 13425 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर फैला है। इसमें बिहार के धनबाद, हजारीबाग, पालामाऊ और राँची जिलों के कुछ भाग तथा पश्चिमी बंगाल के मुख्यतः बांकुरा तथा बर्दवान जिले सम्मिलित हैं। इस प्रदेश की महत्ता दो प्रकार से सर्वमान्य है। एक तो इसी क्षेत्र के निम्न भूमि अंतरालों से ही यहां के कोयला क्षेत्रों से होते हुए रेल मार्ग कलकत्ता को बिहार एवं भारत के अन्य केन्द्रीय प्रदेशों से मिलाते हैं। दूसरे इसी प्रदेश में भारत विख्यात कोयला भंडारों की विस्तृत शृंखला स्थित है। बहुत समय तक दामोदर नदी प० बंगाल में हर साल वर्षा ऋतु में आने वाली विनाशकारी बाढ़ों के लिए भी बदनाम रही।

अब इस क्षेत्र में बहु-उद्देशीय-बांधों के निर्माण तथा दामोदर घाटी परियोजना (दामोदर-घाटी-कार्पोरेशन) द्वारा जलराशि पर नियन्त्रण एवं इसके समुचित उपयोग से इस क्षेत्र के आर्थिक महत्व में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। इस समस्त प्रदेश में कोयले तथा अन्य खनिजों के विकास तथा उनके उचित उपभोग से एक नए औद्योगिक भू-दर्शन का उदय हुआ है। इस प्रकार खनिज-संपदा, विभिन्न परिवहन मार्गों तथा जल-नियंत्रण, जैसे केन्द्रयीभूत तत्वों के इर्द-गिर्द इस छोटे से प्रदेश के एक विशिष्ट व्यक्तित्व का विकास हुआ है। यह विचाराधीन अध्ययन क्षेत्र अब बिहार-बंगाल की सीमा पर फैले भारत के भारी उद्योगिक प्रदेश का वह अंग है जो खनिज संपदा के सकेन्द्रण के लिए विख्यात है।

अवस्थिति तथा भौतिक पर्यावरण

दक्षिण बिहार के पहाड़ी क्षेत्र में, दामोदर घाटी की स्थिति पश्चिम से पूर्व दिशा को छोटा-नागपुर प्रदेश के मध्य में स्पष्ट है। यह प्रदेश 300-600 मीटर की ऊंचाई पर छोटानागपुर के उन दो पठारों के मध्य स्थित है जिन्हें उत्तर में हजारीबाग पठार तथा दक्षिण में रांची पठार के नाम से जाना जाता है। दामोदर नदी के कुल 500 किलोमीटर लम्बे मार्ग का 270 किलोमीटर भाग बिहार में है। दामोदर घाटी का भूतल अपने उच्चतम भाग में समुद्र तल से औसत 510 मीटर की ऊंचाई पर है, परन्तु जहां नदी बंगाल के मैदान में हुगली से जा मिलती है, इसकी यह ऊंचाई केवल 30 मीटर रह जाती है। लगभग 150 मीटर की ऊंचाई पर नदी पहाड़ियों में अपनी संकरी घाटी से निकल कर बर्दवान के समीप मैदानी भाग में उतरती है (देखिए चित्र-34)।

इसकी बहुत-सी सहायक नदियां हैं जिनमें सबसे लम्बी शाखा मुख्य नदी के बांए ओर की है।

दामोदर घाटी एक दरार-घाटी है अथवा यह एक धंसी हुई द्रोणिका है जोकि अपने चारों ओर की टूटी-फूटी और मुड़ी हुई पठार के कगारों से घिरी है। इस क्षेत्र में पठार के एक स्तर से दूसरे स्तर की धरातलीय ऊंचाइयों में तीव्र अन्तर के कारण पूरा भू-क्षेत्र एक दम से असमान ऊंचाई निचाई का क्षेत्र है। दामोदर नदी के दोनों ओर की सहायक नदियों के लम्बे मार्गों में पड़ने वाले तीखे ढाल धरातल में कई परीवर्तन-स्थल प्रदान करते हैं। यदि वह स्थल जहां नदियां पठार के एक स्तर से दूसरे स्तर पर उतरती हैं अथवा मुख्य धारा में मिलती हैं, बांधों व जलप्रयातों के निर्माण के लिए उपयुक्त है, तो इधर उधर खड़ी ऊंची अवशिष्ट और कठोर चट्टानों को परस्पर मिला देने से बांध निर्माण में बहुत सहायता मिलती है।

इस प्रकार इस प्रदेश की संरचना तथा भौतिक बनावट का मानव के लिये बहुत अधिक महत्व है। घाटी के दक्षिणी छोर के साथ वाले अंश को धन्यवाद दें जिसके कारण यहां चट्टानों के खिसकने का लाभ उठाते हुए कोयले की घनी पर्तों तक सरलता से पहुंचा जा सकता है और जैसाकि पहले ही संकेत किया जा चुका है, ऐसे सुदृढ़ भू-क्षेत्र के ऊपर ही मजबूत बाँधों का निर्माण संभव हो सका है।

जलवायु-जलविज्ञान और जल-शक्ति विकास

इस प्रदेश में 125 सेन्टीमीटर औसत वार्षिक वर्षा अधिकतर जून से सितम्बर के मध्य में होती है। बंगाल की खाड़ी में बनने वाले उष्ण कटिबंधीय चक्रवातों के मार्ग में स्थित होने के कारण यहां आकस्मिक तूफानों से होने वाली वर्षा की भी काफी संभावना रहती है। साधारणत: वर्षा, घाटी के निचले भागों की अपेक्षा ऊपरी ढलानों पर तथा पूर्वी भागों की अपेक्षा पश्चिमी भागों में अधिक होती है। मौसमी वर्षा के अनियमित वितरण के अतिरिक्त, भारी तेज वर्षा तथा नदियों में अत्यधिक जलराशि के आकस्मिक बहाव की गम्भीर समस्याएं उपस्थित रहती हैं।

गर्म व आर्द्र जलवायु में चट्टानें सुगमता से विघटित हो जाती हैं जिससे यहां से शैल तथा बलुआ पत्थर पर ऋतु क्रिया बहुत होती है। इन नदियों के जल में तलछट की अधिकता, नदियों के मार्ग को अवरुद्ध करके बंगाल के मैदानी भागों में विनाशकारी बाढ़ का कारण बनती रही है। जहां ऊपरी उद्‌गम क्षेत्र की रवेदार चट्टानों से वर्षा का समस्त जल नीचे को बह जाता है, वहां वनों की कटाई तथा आसानी से क्षीण होने वाली चट्टानों पर्तों पर अनियन्त्रित पानी का बहाव, जल में भारी मात्रा में तलछट भर देता है। जैसे ही नदी आसन सोल के निकट बहुत संकरे चट्टानी-अंतराल से निकलने के बाद वर्दमान के समीप मैदानों में उतरती है तो यह अवसादों की भारी मात्रा से अवरुद्ध अपने मार्ग को काट कर आगे बढ़ती है। इससे बर्दमान के नीचे का विस्तृत बाढ़ग्रस्त प्रदेश कभी-कभी तो 2 से $2\frac{1}{2}$ मीटर की गहराई तक जल मग्न हो जाता है। इसके फलस्वरूप बहुत से गांव तबाह हो जाते हैं। इसीलिए दामोदर को बहुत काल तक बंगाल में 'शोक की नदी' कहा जाता रहा है। इसमें साधारण बाढ़ तो हर साल आती रही है। बाढ़ों के साथ आई हुई तलछट की भारी मात्रा पश्चिमी बंगाल के प्राय: स्थिर जलागारों में भरती रही है। इस अटी हुई तलछट सामग्री को हटाने में भारी व्यय करना पड़ता है जिससे कि कलकत्ता जलपोताश्रय को समुद्र से जोड़ने वाले जल मार्ग को जल की पर्याप्त मात्रा लगातार मिल सके।

इन सब समस्याओं के समाधान के लिए तथा अनियन्त्रित दामोदर की जल राशि के लाभकारी उपयोग के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका की टेनीसी वैली अथोरिटी के समरूप एक योजना इस नदी घाटी के लिये भी 1948 में अपनाई गई। इस घाटी में संपदा के संगठित विकास की योजना बनाने के लिये केन्द्रीय सरकार तथा बिहार व

प० बंगाल की सरकारों के सामुहिक प्रयास से 'दामोदर घाटी कार्पोरेशन' की स्थापना की गई। योजना के अन्तर्गत दामोदर बेसिन में दामोदर तथा इसकी सहायक नदियों पर सात मुख्य तथा दो अन्य बांधों के निर्माण पर विचार हुआ। बहुत सी नहरों और उनके उद्गम स्थलों, छोटी जल-संग्रहण योजनाओं तथा बांधों की निर्माण योजनाएं प्रस्तावित की गई जिनसे जल यातायात और सिंचाई की सुविधाएं बढ़ाई जा सकें। यह एक बहु-उद्देशीय योजना बनी क्योंकि इसके उद्देश्य, जलशक्ति उत्पादन, सिंचाई की सुविधा प्रदान करना, जल यातायात का विकास, बाढ नियंत्रण तथा प्रदेश के अन्य आकर्षणों को बढ़ावा देना इत्यादि सभी थे। बांधों के स्थान निर्धारण में जिस अतिरिक्त सतर्कता की आवश्यकता थी वह थी कोयला क्षेत्रों को पानी के भराव से बचाने की, क्योंकि जलाशयों के जल का अंश तलों से रिसकर यहां के कोयला क्षेत्रों में भर जाने का भय बना रहता है।

बांधों के निर्माण से कुछ अनउपजाऊ से तथा कम घनी जनसंख्या के क्षेत्रों को जल मग्न करने से उस समस्या की ओर ध्यान दिया जा सका जो वर्षा ऋतु में इस क्षेत्र की विशाल जल राशि के बिना किसी उपयोग में आये, बह कर समुद्र में चले जाने से उत्पन्न होती थी। इससे एक लाभ यह भी होगा कि बांध जलाशयों के समीप ऊपरी घाटी के ढालू क्षेत्र में भूमिगत जल-स्तर ऊपर उठगा। इस से घास तथा पेड़ खूब उगेंगे और हमारे तथा पशुओं के लिये पेय जल उपलब्ध हो सकेगा। अब यह बांधों द्वारा संचित जल के समीपस्थ टरबाईन को घुमा रहा है और इससे जल विद्युत उत्पन्न हो रही है। निचले घाटी क्षेत्र में यह जल अनेकों यातायात तथा सिंचाई की जल प्रणालियों में विभक्त किया गया है और यह कलकत्ता को जाने वाले जल मार्ग में भरी हुई अत्यधिक मिट्टी को भी बहा कर ले जाने में सहायक है। इन बांधों के पीछे बनी झीलों और नदियों में जल के निरंतर बने प्रवाह ने मत्स्य-पालन को प्रोत्साहित किया है और अधिक पर्यटकों को दृश्यावलोकन के लिये आकर्षित किया है। इस योजना की पूर्णता नये मानव आवासस्थलों, उद्योगों और संचार के साधनों को बढ़ावा देकर प्रदेश के समग्र आर्थिक विकास में सहायक होगी।
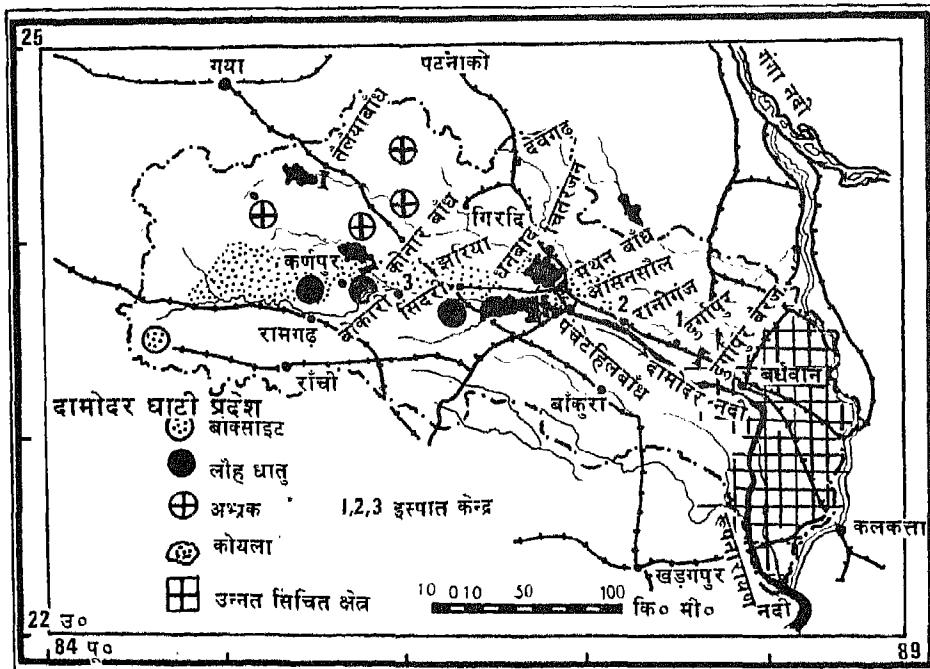
बांधों को नदियों पर ऐसे अनुकूल स्थलों पर बनाना होता है जो इनके ऊपरले भागों में हों परन्तु इतने अधिक ऊपर न हों जिससे बहुत-सा निचला क्षेत्र बाढ़ ग्रस्त होने लगे।

अब तक कोनार और बाराकर नदियों पर 4 बांध पूरे हो गये है और इनके अतिरिक्त 4 प्रस्तावित तापीय शक्ति केन्द्रों में से 2 ने कार्य करना आरंभ कर दिया है। वह बांध जो अब तक बन चुके हैं तथा जो निर्माणाधीन हैं, इन सब की अवस्थितियां और आवश्यक विवरण को साथ दिये गये रेखाचित्र (सं० 34) और सारिणी 13 से समझा जा सकेगा।

विभिन्न बांध-परियोजनाओं से प्राप्त होने वाली समस्त अनुमानित जलविद्युत शक्ति का योग 2,60,000 किलोवाट है। बोकरो, चन्द्रपुरा, दुर्गापुर, सिन्द्री, जमशेदपुर, बर्नपुर और सीतापुर के तापीय विद्युत केन्द्रों से जो विद्युत उत्पादन हो रहा है अथवा भविष्य में होगा, वह इसके अतिरिक्त है।

सिंचाई की दिशा में, दुर्गापुर बैराज जो रानीगंज से 23 किलोमीटर नीचे की ओर तथा कलकत्ता से 165 किलोमीटर दूर है, दामोदर घाटी परियोजना का महत्वपूर्ण अंग है। यह 831 मीटर लम्बा तथा लगभग 12 मीटर ऊंचा है तथा कोनार, तिलैया, मैथान और पंचेटहिल बांधों से आये जल को संग्रहित करके इसको नहरी तन्त्र में प्रवाहित करता है। यह नहरें 5000 वर्ग किलोमीटर से भी अधिक क्षेत्र को प० बंगाल के बर्दवान, बांकुरा, हुगली और हावड़ा जिलों में सींचती हैं। इस संचित जल का अधिकतर भाग मैथान तथा पंचेटहिल बांधों से मिलता है। यद्यपि यह बांध 1955 में पूर्ण हो गया था किन्तु बहुत-सी नहरें अभी भी निर्माणाधीन हैं। इन से लगभग 4 लाख

मानचित्र-34

चित्र-34 मानचित्र में दिखाए गए नदियों पर निर्मित बाँधों एवं औद्योगिक महत्व के शहरों पर ध्यान दो और उनकी अवस्थिति का विश्लेषण करो।

हेक्टर भूमि सींची जायेगी जो अधिकतर बर्दवान और हुगली जिलों में नदी के बांई ओर है। दामोदर प्रदेश के बिहार क्षेत्र में पहाड़ी भूमि होने के कारण बहुत सीमित सिंचाई अथवा उठाऊ सिंचाई ही संभव होगी। इस सिंचाई योजना के पूर्ण होने पर, सम्पूर्ण सिंचित क्षेत्र वर्ष में दो फसलें उत्पन्न करेगा और चावल की उपज में 75 प्रतिशत की वृद्धि की आशा की जाती है।

दामोदर के बाएं किनारे की नहर जल-यातायात तथा सिंचाई दोनों कार्यों के लिए होगी। यह कलकत्ता तथा दामोदर घाटी के कोयला क्षेत्रों के मध्य के लगभग 20 लाख टन वार्षिक भारी सामान को ढोने में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

सिंचाई तथा जल यातायात की नहरों के अतिरिक्त अन्य कई जल प्रवाह नालियां, जल निकास के लिये भी प्रस्तावित की गई हैं। इनकी कुल लम्बाई लगभग 564 किलोमीटर होगी और ये दामोदर घाटी के निचले क्षेत्रों में स्थिर जलाशयों में पानी को प्रवाह प्रदान करेंगी।

मिट्टी तथा कृषि संपदा

इस क्षेत्र की मिट्टी साधारणतया भारी चिकनी तथा दुमट प्रकार की है जो कोयला तथा निम्न कोयला रहित दोनों क्षेत्रों पर वितरित है। समतल कोयला क्षेत्रों और अन्य निम्न भागों में मिट्टी भारी तथा गहरी है जबकि ऊंचे तथा ढालुवां क्षेत्रों में यह पतली, खुरदुरी और हल्की है। बेसिन के ऊपरी क्षेत्र में अधिकतर भाग बिहार के छोटानागपुर खण्ड का है जो अपेक्षाकृत कम उपजाऊ ऊंची नीची असमान भूमि तथा सिंचाई सुविधा से वंचित क्षेत्र है। इस क्षेत्र की कृषिय क्षमता बहुत कम है। कुल जन-संख्या भी अधिक नहीं है, किन्तु इसका अधिक घनत्व कृषि उपयोगी सीमित क्षेत्रों में है जहां

तालिका-13

दामोदर घाटी में जल विद्युत

बांध का नाम	स्थिति व ऊँचाई	पूर्णता का वर्ष	उत्पादित विद्युत शक्ति	लाभ
तिलैया	बाराकर नदी पर—30 मीटर	1953	4000 कि०वा०	कलकत्ता तक
मैथान	बाराकर नदी पर—54 मीटर	1957	60 मैगा वा०	इस्तपात कारखानों
पंचेटहिल	दामोदर नदी पर—47 मीटर	1959	40 मैगा वा०	तांवा तथा अलमुनियम
कोनार	कोनार नदी पर—48 मीटर	1954	10 मैगा वा०	कार्पोरेशनों, रेलों, कोयला खानों, नगरों तथा उद्योगों
बालपहाड़ी	बाराकर नदी पर	निर्माणाधीन या प्रस्तावित	—	को जलविद्युत शक्ति प्राप्त।
अइयर	दामोदर नदी पर	,,	—	
बोकारो	बोकारो नदी पर	,,	—	

प्रति खेतिहर व्यक्ति के हिस्से में केवल 0.25 से लेकर एक एकड़ तक कम उपजाऊ वास्तविक कृषित क्षेत्र आता है। यहां के बलिष्ट जनजातीय कृषकों में वह लोग हैं जो यहाँ के प्रथम खेतीहर निवासी थे और जिनको भारत के पुरातन इतिहास काल में इन पहाड़ी क्षेत्रों में ढकेल दिया गया था। इस प्रदेश के बिहार क्षेत्र में ऊपरी घाटी के निचले भाग में कुछ एक बड़े बड़े कृषित स्थलों के अतिरिक्त धनबाद जिला सबसे अधिक विस्तृत खेतीबाड़ी का ऐसा भू-भाग है जहां इसके कुल क्षेत्र के 23% पर कृषि होती है। कोयला खनन के विकास, इसके ऊंचे-ऊंचे ढेरों, खदान अवासों, धनी संचार प्रणालियों, घने बनों, भारी खनन प्रक्रिया के कारण स्थानीय अपवाह की बाधाओं अर्थात सभी ने इस बेसिन की कृषि को हानि पहुंचाई है। छोटानागपुर में इस प्रदेश को 40 प्रतिशत से अधिक भाग पर बन हैं जो इस घाटी के सीमावर्ती कगारों तथा अवशिष्ट पहाड़ियों पर हैं। यहाँ बहुत मूल्यवान बन उपजे हैं जो यहां की कृषि से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। साल की लकड़ी के अतिरिक्त छोटी छोटी अन्य चीजें भी यहाँ अनेक प्रकार के पेड़ों से प्राप्त की जाती हैं। ऊँचे पहाड़ी ढालों पर बनों का आवरण हल्का है और केवल ताड़, बेर, सबाई घास, ढाक, बांस अथवा कंटीली झाड़ियां इत्यादि देखने में आती हैं।

कृषि का स्वरूप बिहार में छोटानागपुर पठार के अन्य क्षेत्रों के सामान ही है और समस्त दामोदर बेसिन में अधिकतर एक फसली कृषि है। निम्न भूमि क्षेत्रों में चावल, और ऊपरी क्षेत्रों में मक्का तथा दालें मुख्य फसलें हैं जो केवल स्थानीय मांग की पूर्ति करती हैं। नगरीय-क्षेत्रों के समीप रागी फल और सब्जियां तथा कुछ तिलहन इत्यादि उत्पन्न किये जाते हैं।

जनसंख्या

दामोदर के इस सम्पूर्ण 20,000 वर्ग किलोमीटर से भी कम अपवाह क्षेत्र में 60 लाख से कुछ अधिक लोग निवास करते हैं। इस अपवाह क्षेत्र के ऊपरी भाग में जन संख्या का घनत्व 100-180 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। इसके निचले क्षेत्र में धनबाद के समीप यह घनत्व 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से भी अधिक है जहां पर लोग खानों तथा उत्पादक उद्योगों से भी जीविका प्राप्त करते हैं। बेसिन के बगाल क्षेत्र में भी यह 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है जहां से आगे हुगली क्षेत्र में यह 600 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर तक बढ़ जाता है। इस शताब्दी के अन्त तक धनबाद व इससे निचले क्षेत्रों में इस घनत्व के 800 व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर तक बढ़ जाने की संभावना है।

तीव्र ढालों और वनों से ढकी पहाड़ियों पर जनसंख्या विरल व कम है। निचली समतल घाटी में जनसंख्या का वितरण घना है और इस क्षेत्र में काफी नगरीयकरण हुआ है। धनबाद में नगरीय जनसंख्या कुल जनसंख्या का 25% है, जो बिहार राज्य में अधिकतम है। इस क्षेत्र में जनसंख्या की वृद्धि बहुत अधिक हुई है जो 1951-61 दशक में 21% थी और अगले दशक में यह 25% रही। सर्वाधिक 62% वृद्धि पिछले दो दशकों में धनबाद में अंकित की गई। इसका मुख्य कारण लोगों का बाहर से इस क्षेत्र के उद्योगों में आना था। जनसंख्या का घनत्व और इसकी वृद्धि, खनन, निर्माण उद्योग, कृषि और भू-रचना पर निर्भर करती है। किन्तु खनन व निर्माण उद्योग जनसंख्या के इन दोनों तत्वों को घाटी के ऊपरी पहाड़ी प्रदेश में भी बढ़ा रहे हैं।

जबकि 1951 में इस घाटी के बिहार क्षेत्र में केवल तीन शहर धनबाद, झरिया और सिन्द्री थे, 1961 में केवल धनबाद जिले में 16 नये स्थान, शहरों की तालिका में सम्मिलित हो गये थे। बोकारो, गिजरिडिह और खलारी जैसे नये नगरीय केन्द्र घाटी के ऊपरी क्षेत्र में खनन और औद्योगिक विकास के कारण बन गए हैं।

धनबाद जिले के मध्य में स्थित झरिया, सिन्द्री और धनबाद ने तो आकार वृद्धि के कारण, एक समूह का रूप धारण कर लिया है। अब इन्हें एक ही नगर केन्द्र माना जाता है जिसकी कुल जनसंख्या 2,00,618 है। तीव्र औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने ही शहरों में इतनी अधिक समीपतता उत्पन्न कर दी है। धनबाद जिले के उत्तरी-पूर्वी भाग में दूसरा ऐसा समूह कुमारधुही-चिरकुण्डा-दुमारकुण्डा-मैथान शहरों का है। इसी जिले के पश्चिमी भाग में अर्थात दामोदर घाटी के उत्तरी क्षेत्र की प्रसिद्ध कोयला खदानों के निकट इस प्रकार का तीसरा गुछ 'कटरास नगर समूह' के नाम से जाना जाता है। यह विशिष्ट उदाहरण शहरों के विस्तार, जनसंख्या की वृद्धि और प्रदेश की औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था के विकास तथा इनमें से प्रत्येक का दूसरों के साथ अन्तर-सम्बन्ध समझने के लिए एक सारगर्भित विचार प्रदान करते है।

औद्योगिक संपदा

दामदोर घाटी हमारे देश के सबसे अधिक खनिज-सम्पन्न प्रदेशों में प्रमुख है। घाटी की गोंडवाना-युग की पर्तदार चट्टानें कोयला भण्डारों के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व की हैं। इनमें भारत के उत्तम, विस्तृत तथा उत्पादक कोयला भण्डार हैं। चित्र संख्या 34 में नीचे दी हुई सारणी की सहायता से पश्चिम से पूर्व दिशा में समस्त विकसित तथा अविकसित कोयला क्षेत्रों की शृंखला को अंकित कीजिए।

इस प्रकार बिहार मे दामोदर घाटी भारत के समस्त कोयला उत्पादन का लगभग आधा भाग उत्पन्न करती है। देश के मध्यम प्रकार के कोयले के समस्त सुरक्षित भण्डारों का लगभग 60% इसी घाटी में है। यद्यपि रानीगंज की पुरानी खानों का कोयला उत्पादन अपेक्षाकृत कुछ कम हो रहा है परन्तु घाटी के पश्चिमी क्षेत्रों में नये कोयला क्षेत्र तीव्र गति से विकसित हो रहे हैं। इनमें से

तालिका-14

दामोदर घाटी कोयला क्षेत्र

कोयला क्षेत्र	क्षेत्रफल वर्ग किलोमीटरों में	भण्डार (लाख टनों में)	भारत में कुल उत्पादन का % (वार्षिक)
1. कर्णपुरा	1560	107500	5.8
2. रामगढ़	100	2000	
3. बोकारो-चन्द्रपुरा	अप्राप्य	30400	6.2
4. झरिया	440	151800	31.7
5. रानीगंज	1500	13290	2.8
6. गिरडिह्	अप्राप्य	40	0.8

अधिकतर दामोदर की मुख्य घाटी में स्थित है : इन कोयला क्षेत्रों ने अनुपयोगी कार्य विधियों तथा आधुनिक यंत्रिकरण के अभाव, प्रति कार्यकर्ता कम उत्पादन, पूंजी की कमी, पर्याप्त किन्तु अस्थाई और सामयिक श्रमिकों की अनियमित आपूर्ति के कारण बहुत समय तक हानि उठाई है। कोयला क्षेत्रों के 1973 में हुए राष्ट्रीयकरण से कोयला खनन की दशाओं के सुधार के साथ साथ इसका कुल उत्पादन भी बढ़ा है।

अग्नि अवरोधक मिट्टी एक अन्य महत्वपूर्ण खनिज है जो उच्च तापमान पर भी अवरोधक की क्षमता रखता है। यह मिट्टी अग्नि-अवरोधक ईंटों व भट्टियों इत्यादि के निर्माण हेतु कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होती है। इस क्षेत्र में भारत के कुल उत्पादन का लगभग 10% 'अग्नि-अवरोधक मिट्टी' उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त अन्य खनिज, जैसे ग्रेफाइट धनबाद में, बालु दामोदर नदी में, रवेदार चूने का पत्थर पश्चिमी प्रदेशों में, क्वार्टज घाटी के कुछ प्रदेशों में और कुछ लोहा धनबाद क्षेत्र में मुख्य रूप में पाए जाते है। इससे भी अधिक इस प्रदेश का वृत्तिय क्षेत्र भारत में लोह-अयस्क, बोक्साइट, तांबा, सीसा, अभ्रक तथा मैंगनीज की भारी मात्रा के लिये प्रसिद्ध है।

इस प्रदेश में कोयले की पर्तें मोटी (9 से 24 मीटर), समतल तथा क्षैतिज अवस्था में है। जिनमें मोड़ तोड़ बहुत ही कम हैं तथा इनका शोषण आसानी से किया जा सकता है। किन्तु अधिकतर कोयले में राख की मात्रा अधिक होने के कारण यह केवल साधारण कार्यो के लिए ही उपयुक्त है। अब इस्पात कारखानों को धुला हुआ कोयला देने के लिए तथा कोयला क्षेत्र में बहुत कम बचे हुए झरिया जैसे कोंकिंग कोयले की मांग को कम करने के लिये यहां पर अनेकों कोयला-धुलाई केन्द्र स्थापित हो गये हैं।

कोयले के अतिरिक्त यह प्रदेश भारत के लाख उत्पादन की लगभग आधी मात्रा उत्पन्न करता है। यहां के जंगल लाख तथा कागज के लिए घास प्रदान करने का महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

वन उत्पाद, अयस्क, जल तथा तापीय विद्युत विकास की सुविधाएं एक साथ इस प्रदेश के आर्थिक विकास का आधार प्रस्तुत करते हैं।

उद्योग तथा औद्योगिक प्रदेश

भारत में दामोदर घाटी ही एक ऐसा महत्व-पूर्ण प्रदेश है जहां औद्योगिक भू-दर्शन अन्यत्र की अपेक्षा अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई देता है।

हमारे बड़े शहरों से दूर, रानीगज और झरिया के कोयला क्षेत्रों के इर्द-गिर्द एक वास्तविक औद्योगिक भू-दर्शन देखा जा सकता है, जिसमें कारखानों, रज्जु मार्गों, रेलों और सड़कों का सघन जाल, खनकों के आवासस्थल, खादानों, और अपशेष पदार्थों के ढेर सभी सम्मिलित हैं। वास्तव में यह दृश्य पाश्चात्य देशों के खनिजों पर आधारित औद्योगिक संकलों भू-दर्शन के समरूप है। केवल धनबाद जिले में 5,65,000 श्रमिकों (1961 में) में से, 29.5 प्रतिशत खानों में, 8.5 प्रतिशत कारखानों में, और 3.1 प्रतिशत परिवहन तथा गोदामों में काम करते हैं। भारत में और कोई जिला ऐसा नहीं होगा जहां श्रमिक जनसंख्या का इतना अधिक भाग खानों इत्यादि में काम करता हो। जो श्रमिक यहां पर अस्थाई रूप से खनन सम्बंधी निर्माण तथा परिवहन में लगे हैं, उनकी संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक है।

यह घाटी विशाल तथा मध्यम आकार के कारखानों से भरी है। विशाल सिन्द्री उर्वरक कारखाना, सिन्द्री तथा खलारी के सिमेन्ट कारखाने, धनबाद के कोयला धोने के केन्द्र और कोक भट्टियां, कुमार घूबी के यंत्र निर्माण उद्योग केन्द्र, धनबाद के दुर्गलनीय वस्तु निर्माण उद्योग केन्द्र, टुन्डू के शीशा बनाने तथा शीशे की ढलाई के कारखाने तथा अनेक स्थानों पर बने विद्युत ऊर्जा के महान केन्द्र, सभी ने मिलकर इसे एक विशाल औद्योगिक प्रदेश का रूप दिया है। यदि इस बेसिन के सारे नगरों की सूची बनाई जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये नगर या तो रानीगंज, झरिया और बोकारों के कोयला क्षेत्रों के समीप या फिर नव स्थापित जल-विद्युत उत्पादन केन्द्रों के समीप स्थित हैं।

अभी कुछ ही समय पहले तक औद्योगिक विकास पूर्णतया कोयले के खनन तक सीमित था। इसके कुछ एक अपवाद लोहा तथा इस्पात के कारखाने, अग्नि अवरोधक ईंटों के निर्माण, शीशा तथा दुर्गलनीय वस्तु निर्माण केन्द्र थे। अब इस प्रदेश के भीतर अथवा इसके समीप आसनसोल और मुरी (जमशेदपुर के पास) में अलमूनियम के कारखाने, सिन्द्री का उर्वरक उत्पादन केन्द्र, घाटशिला में तांबे की ढलाई का कारखाना, चितरंजन का रेलवे इंजन बनाने का कारखाना, झरिया के पश्चिम में बोकारो का इस्पात कारखाना इत्यादि स्थापित हो गये हैं। मुरी के लिए बोक्साइट 120 किलोमीटर पूर्व के पठारी क्षेत्र में आता है तथा यहां पर तैयार अलुमिना (वह तत्व जिसको शुद्ध करके फिर अलमूनियम बनता है) को इस प्रदेश से बाहर भेजा जाता है। जहां पर इसको शुद्ध करने के लिए पर्याप्त मात्रा में सस्ती बिजली मिलती हो। अब मुरी के समीप एक और प्रगालक तथा शोधक केन्द्र की स्थापना भी हो गई है। सिन्द्री के कारखानों तथा झरिया के समीप अग्नि अवरोधक उद्योगों का बहुत विकास हुआ है। धनबाद में शीशे व जस्ते का एक छोटा शोधक कारखाना, हाथ के औजार तथा रेडियो के पुर्जों के संयोजन केन्द्र स्थापित हो गये हैं। इस प्रकार रांची, दुर्गापुर, जमशेदपुर, और समीपवर्ती छोटानागपुर के शहरों में स्थापित इस्पात तथा उपरोक्त अनेक निर्माण उद्योग भी इस महत्वपूर्ण विकास के ऐसे उदाहरण हैं जो दामोदर प्रदेश से संबंधित रहे हैं।

यह उचित ही कहा गया है कि बोकारो के विशाल इस्पात कारखाने, नये कोयला धुलाई केन्द्रों, सिलिका, कोयले के सह-उत्पादक तत्वों और वन उत्पादों (जो अब तक प्रायः निर्यात होते थे) पर आधारित उद्योगों, तथा दुर्गलनीय निर्माण उद्योगों का विकास इस घाटी को और अधिक बड़ा औद्योगिक प्रदेश बना देंगे। जनसंख्या तथा औद्योगिक नगरों की वृद्धि, आर्थिक साधनों की विविधता और आर्थिक व्यवस्था के आधुनीकरण से यह प्रदेश आगामी विकास के मार्ग पर अग्रसर होगा। निस्संदेह इस प्रगति से दामोदर घाटी क्षेत्र निकट भविष्य में देश के प्रमुख औद्योगिक प्रदेशों में से एक होगा।

परिवहन मार्ग

गंगा के दक्षिण में दामोदर बेसिन के निचले

भागों की ओर कई रेल मार्ग उत्तर, उत्तर-पश्चिम, पश्चिम, और दक्षिण पश्चिम से आकर मिलते दिखाई देते हैं। यद्यपि इसका संबंध दामोदर की निचली घाटी से है किन्तु इस प्रकार के विकास का मूल कारण कलकत्ता है जोकि भारत का महत्वपूर्ण वाणिज्य केन्द्र है। भारत की संचार व्यवस्था की अधिकतम सघनता का उदाहरण घाटी के निचले भाग में स्थित धनबाद से मिलता है।

ग्रॅंडकार्ड रेल मार्ग (अब विद्युत शक्ति से संचालित) इस घाटी के उत्तरी भाग से होकर जाता है। किन्तु कुछ छोटे-छोटे रेल मार्ग इसके दक्षिणी उत्तरी भागों की आवश्यकता पूर्ति करते हैं। आसनसोल से पश्चिम की ओर इन मार्गों का अलग होकर फैलना मानचित्र पर स्पष्ट दिखाई देता है। समानान्तर बहने वाली अजै और दामोदर नदियों के मध्य जलविभाजक ऊंचा नहीं है तथा रेलमार्ग इसी के अनुरूप पटना की ओर गया है। इसकी एक शाखा बाराकर घाटी में स्थित गिरडिह के एक छोटे कोयला क्षेत्र को मिलाती है। दामोदर की सबसे बड़ी सहायक नदी बाराकर के साथ केवल एक सड़क गई है किन्तु कलकत्ता-आसनसोल से गया और पटना को जाने वाला रेल मार्ग ऊपरी बाराकर क्षेत्र से होकर जाता है।

घाटी के ऊपरी भाग में डेहरी-ऑन-सोन से डालटन-गंज होता हुआ रेलवे मार्ग कोयला क्षेत्र पट्टी के साथ-साथ जाता है। इसकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर मुरी होती हुई जमशेदपुर को चली गई है। रांची पठार के कगारों का मन्द ढाल जमशेदपुर के लिए मार्गों को सुगम रास्ता प्रदान करता है। दामोदर बेसिन का पश्चिम भाग अभी भी एक अविकसित ग्रामीण क्षेत्र है।

रेल मार्गों के अतिरिक्त, इस प्रदेश में प्रमुख तथा अन्य सड़कों का जाल सा बिछा है। जहां पर कगारों के तेज ढालों को रेलमार्ग पार नहीं कर सकते, सड़कें इनको पार कर गई हैं। ग्रांड ट्रंक सड़क, ग्रॉण्ड कार्ड रेलमार्ग के कुछ ही किलोमीटर उत्तर में जाती है, और इस प्रदेश के धनबाद क्षेत्रों में यह दोनों समानान्तर चली गई हैं। दूसरी स्थानीय सड़कें औद्योगिक नगरों तथा कोयला खदानों को मिलती हैं।

संक्षेप में कोयला क्षेत्र, समीपस्थ खनिज सम्पन्न क्षेत्र, वन, विद्युत उत्पादन बाढ़ नियंत्रण तथा सिंचाई के लिए बने बांध और संचार साधनों का जाल इस प्रदेश के विकास के लिए केन्द्रीयभूत तत्व प्रदान करते है यहां के अनेक औद्योगिक नगर तथा उनमें रहने वाले लोगों के व्यवसाय इस तथ्य की पुष्टि करते है।

(ख) एक जनजातीय विकास खंड

भारत के जनसमुदाय में बहुत से जनजातीय समुदाय हैं जिनकी भाषाओं तथा स्थानीय रीतिरिवाजों की भिन्नताओं के आधार पर अनेकों समूह है। ये जनजातीय समुदाय भारत के बहुत से भागों में बिखरे हुए हैं परन्तु तीन प्रमुख भागों में इनकी सघनता अधिक है। यह हैं, उत्तर-पूर्वी पहाड़ियां, मध्य भारत में पूर्व से पश्चिम तक फैले वन क्षेत्र, और हमारे द्वीप समूह, जिनमें 15 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या जनजातियों की है। जनजातीय समुदायों की कुल संख्या 427 है जिनमें सन् 1971 में 51 संख्याक्रम से प्रमुख थे। इनकी कुल जनसंख्या 3,80,00,000 है। जो भारत की समस्त जनसंख्या का लगभग 7 प्रतिशत बनती है। भौगोलिक दृष्टि से एकाकी प्रदेशों में रहने के कारण, इन्होंने स्थानीय प्राकृतिक सम्पदाओं का सर्वाधिक सम्भव उपयोग करते हुए अपने आपको पूर्ण रूप से स्थानीय वातावरण के अनुकूल बना लिया है। इन्होंने अपना एक अलग सामाजिक और सांस्कृतिक संसार बनाकर अपने आपको सुरक्षित रखा हुआ है। इनकी आवश्यकताएं तथा आर्थिक क्रियाएं उस प्रदेश की उन परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं जिसमें ये लोग रहते हैं। यह वस्तुस्थिति जनजातीय खण्ड के अध्ययन को दो प्रमुख कारणों से सुरुचिपूर्ण बनाती है—

1. यह मानव और उसके वातावरण के मध्य

सीधे और घनिष्ट संबंधों को समझाने में हमारी सहायता करता है ।

2. ऐसे क्षेत्रों के विकास के लिए जनजातियों की आवश्यकताओं तथा उनके रहन-सहन के विशिष्ट ढंगों को समझने के लिए इसका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है ।

एक आदर्श जनजातीय समाज हमारे प्रचलित सामाजिक ढाचे से सर्वथा अलग है । जनजातीय समाज में उत्पादन के साधनों पर सौर समुदाय का अधिकार होता है, सामाजिक व आर्थिक असमानताएं नहीं होती, बाजारी क्रय विक्रय नहीं होता और तकनीकी स्तर बहुत निम्न हुआ करता है । हमारे ग्राम समाज से अलग थलग रहने के फलस्वरूप जनजातीय समाजों ने अपने सामाजिक आर्थिक लक्षणों को सुरक्षित रखा है । चाहे अन्य लोगों के साथ बढ़ते हुए सम्पर्क के कारण कबीली जीवन बदला है, फिर भी अपने जनजातीय क्षेत्रों की विकास योजनायें बनाते समय वहां की जीवन धारा की मुख्य विशेषताओं को भुलाया नहीं जा सकता । ऐसी विकास योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में, विचारों को ऊपर से लाद देना, कबीली विकास खण्डों के हित में नहीं रहा है ।
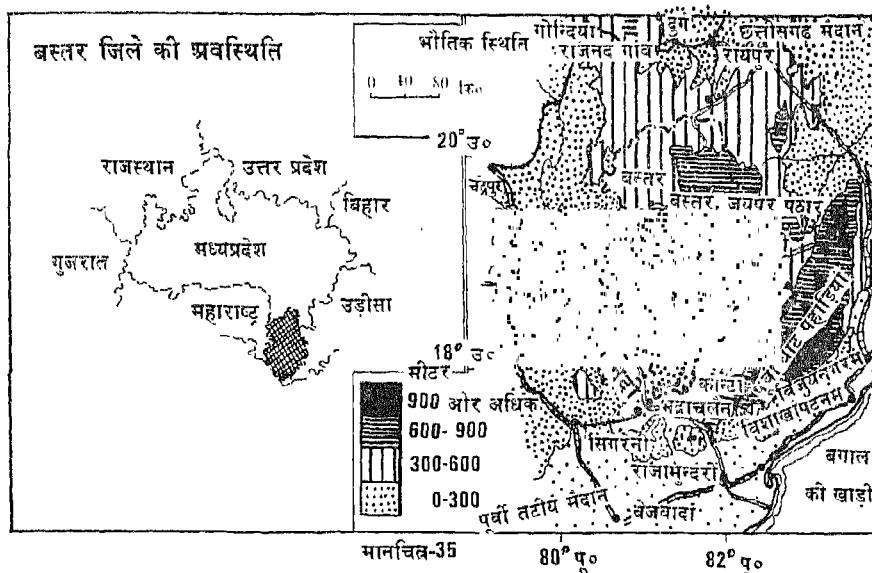
इसी उद्देश्य से, पर्यावरण, वर्तमान अनुकूलन का ढंग, और जनजातीय निवासियों के भविष्य की आवश्यकताओं के उदाहरणार्थ विशिष्ट अध्ययन के लिए, हमने मध्य प्रदेश के बस्तर जिले का चयन किया है । इससे हमें अपने देश की जनजातीय अर्थव्यवस्था की पृष्ठ भूमि को जानने में सहायता मिलती है । मध्य प्रदेश की कुल जनसंख्या का पांचवां भाग अनुसूचित जनजातियों का है । इस विषय में इस राज्य का स्थान पूर्वांचल भारत के पहाड़ी क्षेत्रों, लक्ष्य द्वीप, दादर-नगर हवेली और उड़ीसा के बाद महत्वपूर्ण है । बस्तर जिले में कुल जनसंख्या का 67 प्रतिशत जनजातियां हैं । इनमें से कुछ एक समुदाय ही ऐसे हैं जिनके सारे लोग इस प्रदेश के किसी एक भौतिक क्षेत्र में सकेन्द्रित हैं । साथ में दिए सात मानचित्रों के (चित्र 35 से चित्र 41 तक) ध्यानपूर्वक अध्ययन से इस जनजातीय प्रदेश का संक्षिप्त भौगोलिक विवरण स्पष्ट हो जायेगा ।
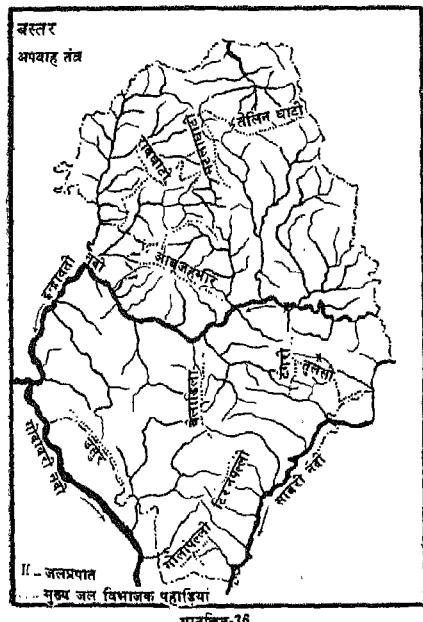
अवस्थिति

बस्तर, मध्यप्रदेश के दक्षिणी पूर्वी कोने में स्थित है । इसके पूर्व में उड़ीसा, पश्चिम में महाराष्ट्र, और दक्षिण में आंध्र प्रदेश है । यह मध्यप्रदेश राज्य की राजधानी भोपाल से 640 किलोमीटर पूर्व में, बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित विशाखापटनम् से 160 किलोमीटर तथा उत्तर में रायपुर भिलाई उद्योगिक संकुल से 88 कि० मी० दूर है । यह पूर्वी घाट की पहाड़ियों की प्रतिवात दिशा में है । इसलिए यह महासागरीय पवनों के प्रभाव से बंचित रह जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय प्रायद्वीप के हृदय प्रदेश में और दक्षिण पठार में इसकी स्थिति आंतरिक तथा महाद्वीपीय है । यह 37750 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाला प्रदेश आकार में डेनमार्क अथवा स्विट्ज़रलैंड के बराबर है । केरल राज्य से कुछ बड़ा, बस्तर जिला भारत के सबसे बड़े जिलों में से एक है । इसके दुर्गम वन आच्छादित पहाड़ी भू-भाग में कुछ एक छोटे-छोटे मैदान हैं । प्रदेश में छः मुख्य तथा एक दूसरे से भिन्न जनजातियां रहती हैं । विशेषकर इसके भीतरी अत्यंत दूरगामी भागों में बसने वाले कबीले अभी तक भौतिक प्रगति की दौड़ में अपने आदिकालीन स्तर पर हैं ।
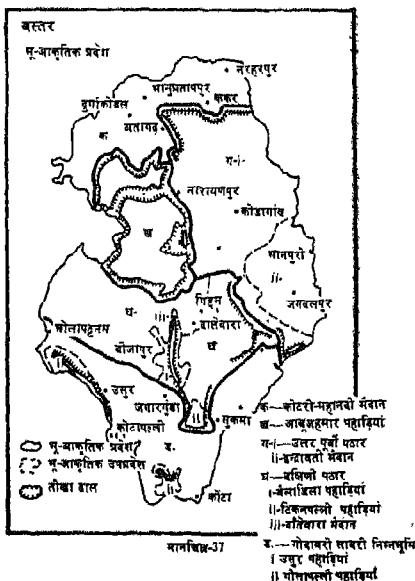
बस्तर जनजातीय खण्ड उष्ण कटिबंधीय भू-खण्ड में 17° से 20° उत्तर अक्षांशों और 80° से 82° पूर्वी देशान्तर रेखाओं के मध्य फैला है । इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण को 288 किलोमीटर तथा पूर्व से पश्चिम को 200 किलोमीटर है । थोड़ी-सी निम्न भूमि क्षेत्र जो इसके उत्तर व दक्षिण में महानदी तथा गोदावरी नदियों की घाटियों में है, को छोड़कर, इसका अधिकांश भाग समुद्रतल से सामान्यतया 600 मीटर के लगभग ऊंचा पठार है । दुर्गम पहाड़ी भूपृष्ट और घने बनों के कारण, मुख्य रेल मार्ग इस प्रदेश से दूर हैं और बस्तर जिले की बाहरी सीमा के साथ-साथ एक

मानचित्र-35
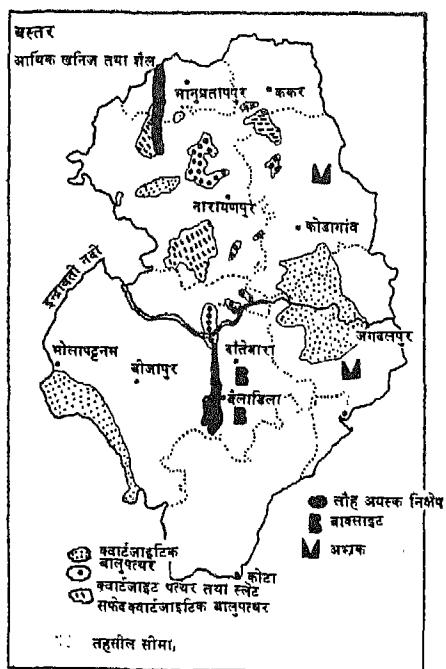
चित्र-35 मध्य प्रदेश के किस भाग में बस्तर स्थित है ? बस्तर जिले के सर्वाधिक ऊँचे और नीचे भू-भाग को अंकित करो।

मानचित्र-36

चित्र-36 बस्तर की प्रमुख नदियों पर ध्यान दो और देखो किस भाग से वे बहती हैं।

मानचित्र-37

चित्र-37 बस्तर जिले की पहाड़ियों, पठारों और निम्न भूमियों पर ध्यान दो।

मानचित्र-38

चित्र-38 लौह-अयस्क, बाक्साइट तथा अभ्रक बस्तर के प्रमुख खनिज हैं। हाल में टिन जो भारत में कहीं नहीं मिलता तथा ताँबा भी इस जिले में प्राप्त हुए हैं।

मेखला-सी बनाये हुए दिखाई देते हैं। सन् 1967 में पहली बार एक छोटे रेल मार्ग द्वारा विशाखापट्नम् पत्तन को दक्षिण भाग में स्थित बैलाडिला के लोह खदान क्षेत्र से मिलाया गया है। अतः दुर्गम धरातल घने वन आवरण और परिवहन मार्गों के अविकास ने इस प्रदेश को बाहरी प्रभावों के दूर रखा है। जनजातियों को अपनी प्रथक विशिष्टता बनाये रखने की मनोवृत्ति, यहां की सामान्य अनधिगम्यता को और बढ़ा देती है।
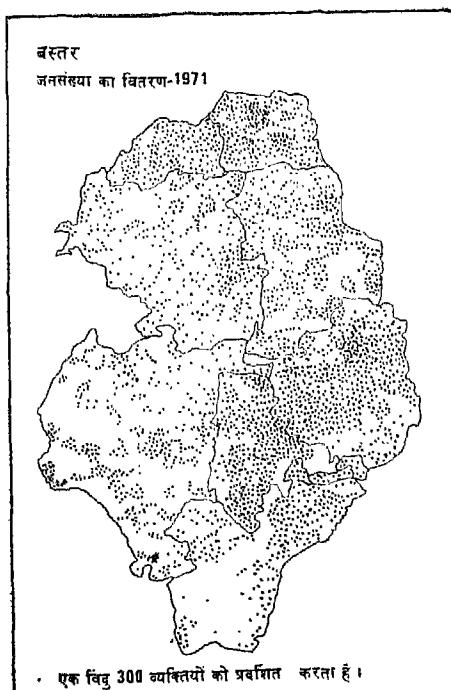
भू-आकृति

बस्तर क्षेत्र के प्राकृतिक जलप्रवाह को देखने से यहां का धरातल का समझना आसान हो जाता है। छोटे-बड़े जल-प्रवाह क्षेत्रों को कई एक पहाड़ियां एक-दूसरे से अलग करती है। महानदी अपने उद्गम स्थान को जिले के बाहर ही छोड़ने के बाद इस प्रदेश में बहती है। अपने ऊपरी पहाड़ी भाग में होने के कारण सुदूर उत्तर में यह अभी तक एक छोटी नदी ही रहती है और दक्षिण से इसमें कुछ एक सहायक नदियां मिलती हैं।
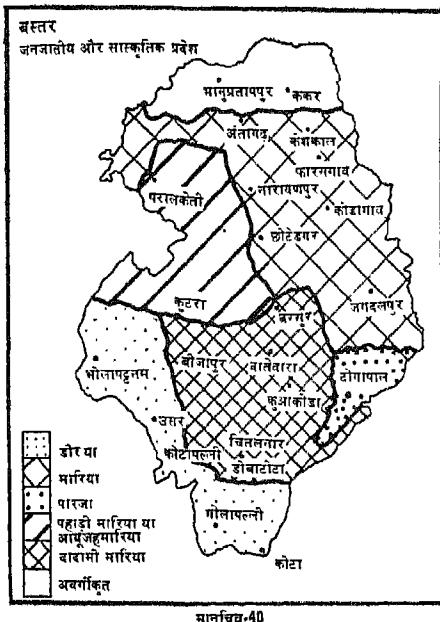
गोदावरी का प्रवाह क्षेत्र सबसे विस्तृत है। मुख्य नदी अपने दोनों ओर खड़े ऊंचे किनारों के बीच बस्तर की केवल दक्षिणी सीमा के साथ बहती है।

इन्द्रावती तथा साबरी इस क्षेत्र में गोदावरी की मुख्य सहायक नदियां हैं। इन्द्रावती इस क्षेत्र के बीचों-बीच पश्चिमोतर बहने वाली मुख्य धारा है। साबरी नदी जिले की दक्षिण पूर्वी सीमा के साथ बहती है। यह नदियां छोटी हैं और 45 मीटर से अधिक चौड़ी तथा लगभग 6 मीटर से अधिक गहरी नहीं हैं। अधिकतर नदियों में सारा

मानचित्र-39

चित्र-39 बस्तर के उच्च तथा निम्न घनत्व वाले क्षेत्रों पर ध्यान दो। इन प्रारूपों का विश्लेषण करो।
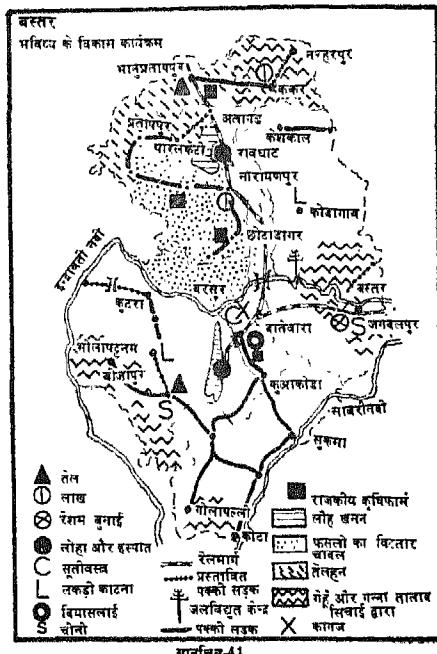
मानचित्र-40

चित्र-40 बस्तर में जनजातीय संस्कृति की विविधता है और यहां कई जनजाति के लोग रहते हैं। इस मानचित्र से इस कथन की पुष्टि किस प्रकार होती है।

मानचित्र-41

चित्र-41 इस मानचित्र की सहायता से बस्तर के साधनों के विकास संभावनाओं की एक सूची बनाइए।

साल पानी रहता है। पानी की मात्रा वर्षा ऋतु में बहुत अधिक बढ़ जाती है तथा शुष्क गर्मियों में यह मात्रा बहुत कम हो जाती है।

अब हम जल प्रवाह तथा उच्चावच मानचित्रों के आधार पर प्रदेश को निम्नलिखित भू-आकृतिक खण्डों में बांट सकते हैं।

1. उत्तरी महानदी का मैदान-समुद्र तल से औसत 300 से 450 मीटर तक ऊंचा है। मैदान का ढाल उत्तर को है तथा दुर्ग और रायपुर जिलों के छत्तीसगढ़ के मैदान में मिल जाता है।

2. अबुझमार की पहाड़ियां—सामान्यत: 450 से 750 मीटर से अधिक ऊंची। प्रदेश के पश्चिमी भाग में यह पूर्णरूप से ऊंची पहाड़ियों तथा अनेकों नदियों की गहरी घाटियों का क्षेत्र है। साधारणत: यह सब ओर से प्रभावकारी भौतिक अवरोधक प्रस्तुत करती हैं।

3. उत्तर-पूर्वी पठार—मुख्यतया 450 से 750 मीटर तक ऊंचा। इसकी विशेषता, इसके उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम में खड़े सीधे कगार हैं। इसमें दक्षिण भाग में स्थित समुद्र तल से 400 से 600 मीटर तक ऊंचा इन्द्रावती का मैदान क्षेत्र भी सम्मिलित है।

4. दक्षिणी पठार—300 से 750 मीटर से अधिक ऊंचा है। इसके मध्य भाग में बैलाडिला तथा टिकमपल्ली की पहाड़ियां हैं और उत्तर में छोटा-सा दान्तेवाड़ा का

मैदान है। बैलाडिला शब्द के अर्थ 'बैल का कूब' है। बस्तर में यह सब से ऊंची पहाड़ी है जो समुद्र तल से 1200 मीटर तक की ऊंचाई तक पहुंचती है। इसकी दो समानान्तर पहाड़ियों से एक श्रेणी बनती है जो अपनी अधिक ऊंचाई तथा कम चौड़ाई के कारण एक प्रकार की भौतिक रुकावट उपस्थित करती है।

5. गोदावरी तथा साबरी नदियों का दक्षिणी निम्न भाग—150 से 300 मीटर तक ऊंचा।

   दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम किनारे के साथ की दो पहाड़ियों को छोड़कर यह क्षेत्र एक प्रकार का ऊंचा-नीचा मैदान है। यह इस जिले की दक्षिण सीमा से दक्षिण पठार के आधार तक फैला है।

भू-आकृतियों का मानव जीवन पर प्रभाव

बस्तर में भारी भू-आकृतिक विभिन्नताओं ने मानव क्रिया-कलापों तथा जनसंख्या के वितरण में विषमताओं को जन्म दिया है। निम्न भूमि विस्तृत कृषि के लिए अनेक सुविधाएं प्रदान करती है। वन अधिकतर ऊंचे भागों में ही रह गये हैं। किन्तु इसके दो अपवाद हैं। दक्षिणी पठार में वहां के बीहड़ पहाड़ी भू-भाग के वनों को कृषि के लिए काट दिया गया है। जनजातीय कृषकों ने ऐसा प्रायः इसलिए किया है क्योंकि यहां उन्होंने अपने आपको आस-पास के पहाड़ी अवरोधों के घेरे में सुरक्षित समझा है। एक दूसरा अपवाद अमुझमार की पहाड़ियां है जहां कृषि निचली घाटी में न होकर उसकी पहाड़ी ढलानों पर की जाती है। अमुझमार कबीले के लोगों ने पहाड़ी ढालों के निचले किनारों पर अपने गांव बनाये हैं क्योंकि यहां घाटियों की अपेक्षा सुखद पवन अधिक चलती है। यहां इन्हें ऊपरी ढलान के वनों, निचली ढलानों के जल स्रोतों तथा कृषि उपयुक्त भूमि और अपने आवास स्थलों के आस-पास के उत्तम जलप्रवाह, सभी का समुचित लाभ मिलता है। यह लोग अभी भी पहाड़ी ढालों पर स्थानान्तरी प्रकार की कृषि करते है क्योंकि इन्हें कृषि के लिए अधिक उपयोगी निम्न समतल भूमि को जोतने का अभ्यास नहीं हुआ।

उच्चावच अर्थात धरातल का प्रभाव फसलों पर आसानी से देखने में आता है। निचले भागों में चावल उगाया जाता है, ऊंचे भागों में ज्वार तथा अन्य मोटे अनाज और घटिया प्रकार की दालें उत्पन्न की जाती हैं। यहां की स्थलाकृति नहरी सिंचाई के अनुकूल नहीं है। निचली-भूमि को छोड़कर पेय-जल की प्राप्ति के लिए कुएं खोदना बहुत ही कठिन तथा खर्चीला कार्य है। सम्पूर्ण विस्तृत पठारी धरातल पर केवल तालाब ही एक ऐसा साधन है जिनके निचले गड्ढों में वर्षा के जल को एकत्रित किया जा सकता है।

ऊंची पहाड़ियां और तीव्र ढाल सड़क निर्माण में बाधक हैं। इसलिए यहां की अनेकों वेगवती नदियों के किनारे-किनारे अधिकतर बैलगाड़ियों के मार्ग हैं अथवा केवल अच्छी ऋतु में काम देने वाली सड़कें। सड़कें पहाड़ी कगारों को केवल दर्रों के मध्य से ही पार करती हैं अन्यथा इनका खड़ा ढाल सड़कों और परिवहन के अन्य साधनों के विकास में अवरोधक सिद्ध होता है।

जनसंख्या की सघनता निचले भागों अथवा पहाड़ियों से घिरे बेसिन के आकार के क्षेत्रों में है। जनसंख्या के मानचित्र पर पहाड़ियां तथा वनक्षेत्र जनसंख्या रहित स्थलों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। दुर्गम भू-तल तथा भौगोलिक एकाकीपन ने एक जनजातीय समूह को अन्य से पूर्णतया भिन्न बना रखा है। इनमें से प्रत्येक जनजातीय अपने रहन-सहन के ढंगों को सुरक्षित रखना चाहती है। यह मनोवृति बस्तर क्षेत्र के जनजातीय खण्ड के विकास में एक बाधा बन गयी है। उदाहरणार्थ अमुझमार के पहाड़ी प्रदेश में स्कूल, औषधालय अथवा उपयुक्त सड़कें नहीं हैं।

जलवायु तथा इसका मानव जीवन पर प्रभाव

बस्तर की जलवायु उष्ण कटिबंधीय मानसून

प्रकार की है। यहां का वार्षिक औसत तापमान 245 सें० है तथा यहाँ शुष्क आरम्भिक गर्मी, इसके बाद की गर्मी, तथा शीत, तीन मुख्य ऋतुएं होती हैं। औसत वार्षिक वर्षा 120 सें० मी० है, जिसमें से शीत ऋतु में केवल 8 सें० मी० के लगभग वर्षा होती है। मानसून की अरब सागर शाखा अधिकतर वर्षा लाती है, इसलिए बस्तर का दक्षिणी-पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भाग पवनों के सम्मुख पड़ता है जहां क्रमशः 137 से 150 सें० मी० तक वर्षा प्राप्त होती है। मध्यवर्ती भाग में पहाड़ियां वृष्टि छाया प्रदेश बना देती हैं जिससे 120 सें० मी० से अधिक वर्षा नहीं होती और आगे पूर्व में वर्षा की मात्रा फिर बढ़कर 125 सें० मी० वार्षिक से कुछ अधिक तक पहुंच जाती है।

इस प्रदेश की जलवायु में स्पष्ट प्रादेशिक भिन्नताएं नहीं हैं किन्तु एक ऋतु से दूसरी ऋतु में बहुत अधिक भिन्नता है। कृषि अधिकतर वर्षा पर निर्भर करती है, इसीलिए वास्तविक बोई जाने वाली भूमि के 90 प्रतिशत क्षेत्र पर खरीफ (मानसून) फसलें बोई जाती हैं और कृषि कार्य के लिए मुख्यतया वर्षा से पानी प्राप्त किया जाता है। उष्ण शुष्क गर्मी की ऋतु में कृषि कार्य निम्नतम होता है। इसीलिए लोग इस अवधि में वनों से वन-उपजें एकत्रित करते हैं तथा वर्षा ऋतु की भीषण वर्षा से बचने के लिए इस शुष्क मौसम में अपने घास व मिट्टी से बने घरों की मरम्मत करते हैं। आर्द्रगर्मी के मौसम में, पशुओं के लिए चारा, तथा मत्स्य कार्य के लिए जल प्राप्त हो जाता है। ये दोनों काम लोगों को, कृषि के अतिरिक्त, कार्यरत रखते हैं। शीत ऋतु में दक्षिण में गोदावरी के निचले भागों में तापमान अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इसलिए यहाँ ज्वार खरीफ तथा रबी दोनों फसलों में उत्पन्न कर ली जाती है तथा स्थानीय लोगों को इससे भोजन मिलता रहता है। इसके साथ ही, वर्षा ऋतु अपने साथ अनेक बीमारियां लाती है तथा बस्तर के बहुत से गांवों को एक-दूसरे से कुछ समय के लिए अलग कर देती है। इन गरीब जनजातीय लोगों के लिए, जो साधारणतया बहुत कम कपड़े पहनते हैं, थोड़ी सर्दी भी अपने आपको शीत से बचाने की कठिनाई के कारण भयंकर प्रतीत होती है।

सम्पदा आधार

1. इस क्षेत्र का अधिकतर भाग कायान्तरित तथा ग्रेनाइट चट्टानों का बना है। इनके अपक्षय से हल्की तथा कम उपजाऊ लाल मिट्टी बनती है। ऊपरी भागों तथा पहाड़ियों पर इस मिट्टी की पर्त पतली है और निचले भागों में अपेक्षाकृत गहरी। ऊपरी भागों की चट्टानें गर्म जलवायु में, शुष्क के बाद आर्द्र ऋतुओं के फेर बदल के प्रभाव से लेटराइट प्रकार की मिट्टी में बदल जाती हैं। जहां वनस्पति-आवरण से रहित ढलानों पर भारी वर्षा बहुत अधिक मात्रा में मिट्टी का कटाव करती है वहां वन प्रकार की वनस्पतियां, बस्तर की मिट्टी को अधिक ह्यूमस नहीं दे पातीं। इन सब कारणों से, इस क्षेत्र की मिट्टियों की उर्वरता बहुत कम है। ऐसी कम उपजाऊ मिट्टियों के अन्तर्गत कृषि भूमि को अधिक अनुपात में परती रखना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार कुल कृषित क्षेत्र का लगभग 20 प्रतिशत भाग परती भूमि के रूप में रहता है।

जहां मिट्टियां बहुत कम उपजाऊ है, जैसे अबुझमार प्रदेश के पहाड़ी ढालों पर, वहां स्थानान्तरी प्रकार की कृषि होती है। वनों से साफ किए हुए नये भू-भाग पर गिराए हुए अथवा जलाए हुए पेड़-पौधों की राख की सहायता से, ज्वार तथा अन्य मोटे अनाजों की 2-3 फसलें उत्पन्न कर ली जाती हैं। यह पहाड़ी हल्की मिट्टी अपना उपजाऊपन शीघ्र समाप्त कर देती है। इसलिए इसको छोड़ना पड़ता है और कृषि कार्य के लिए किसी अन्य क्षेत्र को चुन लिया जाता है। इसके साथ ही आवास स्थल भी बदलते रहते हैं। छोटे-छोटे स्थाई गाँव अधिकतर इधर-उधर बिखरे हुए बन रहित भू-भागों में, निम्न भूमि अथवा गड्ढों के निकट मिलते हैं। जहाँ आर्द्र मिट्टी रहती है।

1. बस्तर जिले का सबसे विस्तृत भूमि उपयोग यहां के वन हैं। प्रदेश का लगभग तीन-चौथाई क्षेत्रफल प्राकृतिक वनों से ढका है। वन, बहुत से आर्थिक उत्पादनों के बहुमूल्य स्रोत है। सागवान तथा साल का मूल्यवान लकड़ी के अतिरिक्त इनसे अन्य बहुत-सी वस्तुएं फल, फूल, पत्तियों, गोंद और जड़ों के रूप में भी प्राप्त होती हैं। यह कटे हुए अथवा जलाये हुए वृक्षों की राख ही है जो स्थानान्तरी कृषि के लिये भूमि को पोषक खनिज प्रदान करती है। वृक्षों की लकड़ी तथा पत्तियां जनजातीय लोगों की अर्थव्यवस्था में, अनेक प्रकार से प्रयोग में लाई जाती हैं। इन विस्तृत तथा घने वनों ने बस्तर की जनजातीय संस्कृति को यहां के जन जीवन के लम्बे इतिहास काल में सुरक्षित रखा है।

3. बस्तर जिले में खनिज संपदा विशेषकर लोह-अयस्क की बाहुलता है। यहां तीन बड़े क्षेत्रों से बड़ी मात्रा में लोहा प्राप्त होता है—(1) नारायणपुर तहसील में राओघाट की पहाड़ियाँ, (2) दन्तेवाड़ा तहसील में बैलाडिला की पहाड़ियाँ, और (3) उत्तर-पश्चिम में चारगाँव-कोण्डापरवा-इहलद्दी की पहाड़ियाँ। बैलाडिला की पहाड़ी श्रेणी उत्तर से दक्षिण को दन्तेवाड़ा तहसील की पश्चिमी सीमा के साथ-साथ जाती है। इन 35 किलोमीटर लम्बी तथा 10 किलोमीटर चौड़ी तथा 300 से 900 मीटर तक की ऊंची खड़ी पहाड़ियों में लोह अयस्क के पिण्ड बीस स्थानों पर मिलते हैं। कुल लोह भण्डार लगभग 61 करोड़ टन का है जिसमें 60-70 प्रतिशत तक लोहांश है। इस क्षेत्र में जापान द्वारा खनन उद्योगों के विकास के बदले भारत विशाखापतनम के जलपोताश्रय से यहां के लोहे का निर्यात जापान को कर रहा है।

उत्तर-पूर्वी पठार की उत्तर पश्चिमी सीमा के समीप स्थित राओघाट की पहाड़ियों में उच्च धातु अंश का लोह अयस्क छ: समूहों में मिलता है। यह समस्त खनिज भण्डार लगभग 73 करोड़ 80 लाख टन का है।

लोह अयस्क का तीसरा क्षेत्र, बस्तर के उत्तर पश्चिम में है। यहाँ इसकी भण्डार राशि लगभग 8 करोड़, 30 लाख टन की है जिसमें धातुक अंश 56-69 प्रतिशत तक है।

यह जिला अभ्रक बोक्साइड, तथा इमारती पत्थर जैसे धातुक निक्षेपों में धनी है। किन्तु साधारण जनजातीय लोग इस सम्पदा का बड़े स्तर पर औद्योगिक उपयोग करना नहीं जानते।

4. बस्तर के आदिवासी दूरस्थ घने वनों में रहना पसन्द करते है। इससे स्वाभाविक तौर से कोई भी यह अनुमान लगा सकता है कि ये लोग अपना जीवकोपार्जन मुख्यतया शिकार करके, अथवा जंगलों से खाद्य-पदार्थ एकत्रित करके-करते होगें। किन्तु इसके विपरीत उनकी जीवका का मुख्य आधार कृषि है। इस क्षेत्र की 91 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है जबकि मध्यप्रदेश की समस्त जनजातीय जनसंख्या का केवल 44 प्रतिशत भाग कृषकों का है। बस्तर के कुल क्षेत्रफल का केवल 18 प्रतिशत कृषित है और कम उपजाऊ मिट्टियों तथा बहुत कम खाद के प्रयोग के कारण, इसके कृषि क्षेत्र का 20 प्रतिशत अथवा जिले के कुल क्षेत्रफल का 3.5 प्रतिशत भाग परती रहता है। वनों की अत्याधिक कटाई से भी इस क्षेत्र में कृषित भूमि में वृद्धि नहीं होती और केवल बंजर भूमि ही बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि यहां का धरातल ऊबड़ खाबड़ और जनसंख्या का घनत्व भी कम है।

कृषित भूमि के विस्तृत खण्ड बस्तर के पूर्वी तथा उत्तरी-पूर्वी भागों में है, तथा दक्षिण और पश्चिम भागों में इस का विस्तार बहुत सीमित है। प्रथम क्षेत्रों में या तो कृषि योग्य निम्न भूमि प्राप्त है अथवा पहाड़ियों और नदियों के ऊबड़-खाबड़ किनारों ने इन क्षेत्रों को बाह्य उपद्रवों से सुरक्षित रखा है। आदिवासी कृषकों ने यदि किसी भू-भाग को पहाड़ियों द्वारा सुरक्षित पाया तो उसे वनों से साफ करके कृषि योग्य बना लिया। दूसरे क्षेत्र ऐसे हैं जहां विस्तृत निम्न भूमि के अभाव तथा दुर्गम धरातल ने इन पश्चिमी भागों में कृषि योग्य क्षेत्र बहुत कम छोड़े हैं। परन्तु दक्षिणी और उत्तर पश्चिमी निम्न भूमि पर भी कृषित स्थल बहुत

छोटे हैं क्योंकि यह भाग निकटवर्ती क्षेत्रों की विघ्न-बाधाओं से असुरक्षित रहे हैं। यह ध्यान देने योग्य एक सुरुचिपूर्ण तथ्य है कि जनजातीय लोग पहाड़ियों के सुरक्षित एकान्त आँचल में रहना पसन्द करते हैं। इसीलिये ऐसे भागों में वन बहुत विस्तृत हैं जहाँ या तो धरातल बहुत कठिन है अथवा मनुष्य अभी तक वहां बहुत बड़ी संख्या में नहीं बसा।

कृषि मुख्यता स्थानीय आवश्यकता पूर्ति के लिये अनाज की फसलों के उत्पादन तक ही सीमित है। इन आदिवासियों का मुख्य भोजन चावल या मोटे अनाज है, इसलिये इन दो प्रमुख फसलों के अन्तर्गत कृषित भूमि का क्रमश: 60 और 15 प्रतिशत क्षेत्र आता है। इस जिले में गेहूं का प्रचलन बाह्य लोगों के इस प्रदेश में आगमन के उपरांत हुआ है। यह वास्तविक बोए जाने वाले क्षेत्र के केवल 2 प्रतिशत भाग पर बोया जाता है। बहुत सी दालें 11 प्रतिशत क्षेत्र पर पैदा की जाती हैं। मक्का की कृषि 4 प्रतिशत भाग पर तथा कुछ गन्ने और तम्बाकू की फसले इस के 1.2 प्रतिशत भाग पर बोई जाती हैं। अखाद्यानों की उपज में तिलहन बहुत प्रमुख है तथा जिले के वास्तविक बोये जाने वाले कृषि क्षेत्र के लगभग 7 प्रतिशत भाग पर उगाये जाते हैं।

5. हम देख चुके हैं कि बस्तर में कृषि के पश्चात् मुख्य भूमि-उपयोग वनों का है। यद्यपि यहां लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में वन बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, फिर भी वन उपजें, इस जिले में, किसी बड़े स्तर पर औद्योगिक कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त नहीं होतीं। वनों के अतिरिक्त बहुत थोड़ी संख्या में लोग स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये घरेलू उद्योग-धंधों में लगे हुए है। इस प्रदेश में प्रचलित मुख्य घरेलू उद्योग है। (1) पशुपालन, (2) धातु उद्योग, (3) सूती कपड़ा बनाना, तथा (4) लकड़ी का काम।

पशु-पालन मुख्यतया व्यापार तथा प्रशासनिक केन्द्रों में गऊ पालन तक ही सीमित है। गवालों की संख्या जगदलपुर (जिला प्रशासनिक केन्द्र), कोण्डागांव, बीजापुर और भानुप्रतापपुर मे बाहर से आये प्रवासी लोगों की जनसंख्या के सघन केन्द्रीयकरण के कारण अधिक है।

लकड़ी के काम का तात्पर्य यहां बैलगाड़ी के पहिए, हल तथा मकानों के दरवाजों के निर्माण से है। पूर्वी और उत्तर-पूर्वी भागों में अधिक कृषि योग्य भूमि का होना, और कच्ची सड़कों तथा बैलगाड़ी के मार्गो का घना जाल, इन क्षेत्रों में काष्ठ---कार्यकर्ताओं की अधिक संख्या का स्पष्ट कारण है। उत्तरी सीमा क्षेत्रों के लोग इन वस्तुओं का निर्यात समीपवर्ती क्षेत्रों से करना अधिक अच्छा समझते है। यही कारण है जिससे इनकी स्थानीय मांग अधिक होने पर भी, यहां पर लकड़ी का काम करने वालों की संख्या अधिक नहीं है। धातु उद्योग अधिकतर पूर्वी कोण्डागांव तहसील में विकसित हुआ है जहां स्थानीय आदिवासी लोहे की वस्तुओं का अन्य भागों में रहने वाली ज्यादा पिछड़ी जन-जातियों की अपेक्षा अधिक प्रयोग करना जानते हैं।

सूती कपड़ा उद्योग बस्तर में मुख्यतया स्थानीय जनजातीय जुलाहों द्वारा हाथ करघों पर कपड़ा तैयार करने तक ही सीमित है। यह मिलों में बने धागों से बनाया जाता है जो कि यहां के स्थानीय साप्ताहिक बाजारों (पेंठों) में बिकता है। जुलाहों की संख्या उन क्षेत्रों में अधिक है जहां (1) प्रदेश के आदिवासी लोग प्रति व्यक्ति अधिक कपड़े का उपभोग करते हैं, अथवा (2) इनके उस वर्ग के लोग अधिक संख्या में नहीं हैं जो आधुनिक जीवन पद्धति को अपनाने लगे हैं और आयात किया हुआ कपड़ा ज्यादा पसन्द करते हैं। अत: उपरोक्त पहले कारण से इस प्रकार के कार्यकर्ताओं की अधिक संख्या पश्चिमी भागों की अपेक्षा पूर्वी भागों में है। दूसरे कारण से उत्तरी व दक्षिणी सीमान्त तहसीलों में इनकी संख्या कम अनुपात में है।

मानव तथा जन जातीय संस्कृतियां

यहां की जनसंख्या मुख्यतया ग्रामीण है और

लोग छोटे-छोटे गांवों में रहते है। लोग इधर-उधर फैले हुए जंगलों के उन स्थलों को साफ कर के घर बनाते है। जहां उन्हें कृषि के लिए कुछ निर्वाह योग्य भूमि मिल जाये। अधिकतर लोग महानदी के मैदान (कांकेर तहसील), इन्द्रावती के मदान (जगदलपुर), कोटरी के मैदान (भानुप्रतापपुर), दन्तेवाड़ा के मैदान (उत्तरी दन्तेवाड़ा) और साबरी के मैदान (उत्तरी कोन्ता) में बसे हुए हैं। यह सब निचले समतल भू-भाग हैं जिनके ऊपर खूब कृषि होती है।

दूसरी ओर कोण्डागांव (उत्तरी-पूर्वी पठार) और दक्षिणी दन्तावाड़ा (दन्तेवाड़ा पठार) में जनसंख्या की अधिकता इसीलिए है क्योंकि ये भाग एकले नदी बेसिन हैं और जनजातीय लोगों को उनकी मनोवृत्ति के अनुसार यहां स्वछंद एकान्त जीवन बिताना संभव हुआ है। आपको फिर से देखना चाहिए कि इन क्षेत्रों को चारों ओर से घेरने वाली पहाड़ियां, यहां के लोगों को समीपवर्ती चान्दा, छत्तीसगढ़ और आंध्र प्रदेश के विकसित लोगों से किस प्रकार अलग कर देती हैं। जहां कहीं भी इस प्रकार का एकाकीपन उपलब्ध नहीं है (जैसा कि अमुझमार की पहाड़ियों के उत्तर तथा दक्षिण में) वहां के निचले और समतल भागों में उत्तम कृषि योग्य सुविधाओं के होते हुए भी बहुत कम जनसंख्या है। पश्चिम में अमुझमार प्रदेश में कम उपजाऊ भूमि, दुर्गम स्थलाकृति, और स्थानान्तरी कृषि के चलन के कारण आबादी बहुत कम है। बस्तर क्षेत्र में उजड़े हुए गांवों का वितरण स्पष्ट करता है कि पश्चिमी भाग में ऐसे गांवों की सघनता अधिक है। इस दूरस्थ भाग में उजड़े गांवों की अधिकता का कारण यहां की यही कृषि पद्धति है जो लोगों को थोड़े थोड़े समय के बाद अपने पुराने आवासों और खेतों को छोड़कर पुनः नये वन स्थलों को साफ करके इन नये स्थानों पर फसल बोने को बाध्य करती है।

ग्रामीण जनसंख्या का औसत घनत्व 25 मनुष्य प्रतिवर्ग किलोमीटर है जो कि दक्षिण-पश्चिम में 9 से लेकर पूर्व में जगदलपुर में 55 मनुष्य प्रति वर्ग किलोमीटर तक हो जाता है। जनसंख्या का घनत्व सभी जगह कम है। परन्तु अनेक भिन्नताओं के कारण घनत्व में इतना अन्तर आया है। सामूहिक रूप से, यह जिला अर्थविकसित है और अभी भी इसकी प्रगति अपनी क्षमताओं से बहुत कम है। व्यापार, परिवहन, उद्योगों तथा स्वास्थ्य सेवाओं का जहां भी समुचित तथा तीव्र विकास हुआ है, वहीं जनसंख्या में काफी वृद्धि हुई है। अभी भी बस्तर का बहुत-सा भाग वनों से ढका है और यहां बहुत से ऐसे खुले क्षेत्र है जहां वनों को साफ करके और अधिक आवास स्थल बनाए जा सकते हैं। ऐसे स्थानों पर जिले के अन्य भागों से लोगों को बसाने के लिए आकर्षित किया जा सकता है।

अब हमको बस्तर के जनजातियों के प्रादेशिक वितरण को समझना होगा। इसकी सहायता से हम इस प्रदेश को सांस्कृतिक विभागों में बांट सकेंगे। इस प्रकार के प्रादेशिक विभागों का ढांचा हमें वर्तमान जनजातीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं तथा प्रत्येक भाग के विकास की आवश्यकताओं को जानने में उपयोगी होगा। बहुत से विद्वानों द्वारा प्रमाणित वर्गीकरण प्रणालियों को ध्यान में रखते हुए, हमने बस्तर को सात जनजातिय सांस्कृतिक प्रदेशों में बांटा है, जिनमें यहां की प्रमुख जनजातियां रहती हैं। इस समय इनमें से कुछ समूह पूर्ण रूप से पहचान लिए गये हैं, किन्तु कुछ अभी आंशिक रूप से ही जाने गये है क्योंकि जनजातियों के संगठनों में परिवर्तन की प्रक्रिया भी लगातार चलती रहती है।

इस प्रकार ऐसे सात मुख्य सांस्कृतिक उप-प्रदेश, घरों के प्रकार, भोजन, वेशभूषा, धर्म, भाषा, रीतिरिवाज, तथा उत्पादन विधियों के आधार पर एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

1. पहाड़ी-मारिया अथवा अमुझमरिया— बस्तर के पश्चिमी भाग में।
2. मारिया जनजातिय प्रदेश—उत्तरी-पूर्वी तथा मध्य में।

3. भाट्रा प्रदेश—पूर्व में इद्रावती नदी के बेसिन में छोटा सा क्षेत्र है।

4. डारला प्रदेश—दक्षिण और दक्षिण पश्चिमी निचले भागों में है जां कि गोदावरी नदी के सीमा क्षेत्र हैं।

5. ध्रुवा अथवा पारजा जनजातिय प्रदेश, दक्षिणी-पूर्वी जगदलपुर में है और यह प्रदेश पूर्व की ओर समीपस्थ उड़ीसा तक चला जाता है।

6. भैसा-सिंगी मारिया जनजातिय प्रदेश, दक्षिणी-मध्य पठार, इसके निचले भागों तथा इन्द्रावती के मैदानी भागों में है।

7. अवर्गीकृत जनजातिय प्रदेश, मुख्यतया बस्तर के उत्तर में महानदी के मैदान में है।

1. अबुझमारिया जनजाति प्रदेश सबसे अधिक दूरस्थ तथा बस्तर का सब से पिछड़ा हुआ प्रदेश है। 'अमुझमारिया' शब्द का अर्थ है 'अज्ञात पहाड़ियाँ' और यहां के आदिवासी, पत्थर युग की याद दिलाने वाले उन गोंड लोगों से सम्बन्धित किये जाते हैं जो अभी बहुत कम विकसित हैं। धरातल पूर्ण रूप से पहाड़ी होने के कारण यहां की संपदा बहुत कम है। अपर्याप्त संपदा तथा साधन और बाह्य संसार से अलगाव ने इस प्रदेश में सांस्कृतिक विकास की गति बहुत धीमी कर दी है। इन लोगों के पास अपनी दैनिक आवश्यकता पूर्ति के लिए बहुत कम स्थानीय वस्तुएं होती हैं और यह बांस से बने घरों में रहते हैं।

इस प्रदेश में लोग हल के प्रयोग तथा निचले भागों में चावल की खेती करने की विधियों को नहीं जानते हैं। ये ऊपरी भागों की कम-उपजाऊ भूमि पर ही रहते हैं तथा स्थानान्तरी को कृषि से ही जीवनयापन करते हैं। इन्हें इस कृषि पद्धति के दोष मालूम हैं परन्तु घने वनों और बहुत कम आबादी के कारण, इनके सामने अभी और कोई विकल्प नहीं है। अपने स्थानीय प्रदेश की सीमाओं के निकट ये स्थाई कृषि पद्धति को अपना रहे हैं। ये अपने वातावरण में इतने अनुकूलित हो गये हैं कि इतने प्रदेश में बाजार केन्द्रों तथा नई सड़कों को देखना तक भी पसन्द नहीं करते। इस क्षेत्र में इस प्रकार के विकास तभी सम्भव होंगे जब इन लोगों की आवश्यकतायें बढ़ेंगी तथा ये इस उद्देश्य से बनाई योजनाओं के प्रति अपनी मनोवृति बदलेंगे।

2. मारिया जनजाति प्रदेश बस्तर का सबसे बड़ा सांस्कृतिक प्रदेश है। इसका विस्तार अधिकतर तो उत्तरी-पूर्वी पठार पर है परन्तु समीप के कुछ क्षेत्र भी इसमें सम्मिलित हैं। यह जनजाति अपने अन्य उप-वर्गों समेत चावल व मोटे अनाजों की कृषि पर जीवन निर्वाह करती है। ये लोग अपने आसपास के वनों से पर्याप्त मात्रा में वन उपजें भी इकट्ठी करते हैं। यहां के वन बहुत मुल्यवान है, परन्तु रेशम उद्योग तथा लाख का उद्योगिक प्रयोग (लाख ऐसे कीड़ों से प्राप्त होता है जो कि इसी प्रदेश के पेड़ पत्तियों पर पलते हैं) यहां के निवासी नहीं जानते। ये लोग कच्चा रेशम तथा लाख की बत्तियां, यहां के जिला केन्द्र जगदलपुर तथा सड़क परिवहन केन्द्र नारायणपुर तक ला सकते हैं, यदि इन स्थानों पर कारखाने खोल दिये जायें। यदि भिलाई से दक्षिणी बस्तर की ओर नारायणपुर तथा बलाडिला के लोह अयस्क क्षेत्रों तक रेल मार्ग बना दिया जाएं तो रास्ते में पड़ने वाले राओघाट में लोहा-इस्पात तथा दूसरे स्थानों में अन्य उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं। इस प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी भाग इन्द्रावती के मैदान में यदि तालाबों द्वारा सिंचाई की सुविधा का विकास हो सके तो यहां के निवासी आसानी से गन्ने तथा गेहूं की खेती करना सीख सकते हैं। इस प्रकार के विकास कार्य जगदलपुर तथा आस-पास के क्षेत्रों में औद्योगिक क्रियाओं को बहुत अधिक प्रोत्साहन देंगे। इन्द्रावती नदी का चित्रकोट जलप्रपात, सम्पूर्ण बस्तर की औद्योगिक प्रगति के लिए, जल-विद्युत उत्पादन का प्रमुख केन्द्र बनाया जा सकता है। मारिया जनजाति प्रदेश के कृषि में पिछड़े हुए उत्तरी-पश्चिमी भाग में तिलहनों की खेती के विस्तार के लिए भी सिंचाई साधनों की

कोई अधिक आवश्यकता नहीं है। तिलहनों की खेती यहां के तेल उत्पादन कारखानों का आधार बन सकती है। मारिया लोगों में कई एक नई और अच्छी वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग इनके शीघ्रता से बदलते जीवन की द्योतक है।

3. भाट्रा जन जाति प्रदेश, बस्तर में सांस्कृतिक उपलब्धियों के आधार पर द्वितीय स्थान पर आता है। इसमें जगदलपुर तहसील के इन्द्रावती मैदान के पूर्वी भाग पड़ते है। इस प्रायः समतल भू-भाग में उपजाऊ उत्तम मिट्टी तथा सुगम संचार के साधनों ने यहां के निवासियों के सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा दिया है। यद्यपि यहां मुख्य फसल चावल की है किन्तु तिलहन, गन्ना, तथा गेहूं की सघन कृषि भी की जाती है। कृषि के लिए और अधिक भूमि क्षेत्र बढ़ाने और तिलहनों तथा गन्ने के कृषि क्षेत्र और उपज में वृद्धि की जाये तो इन पर आधारित कृषि उद्योगों की स्थापना कर के जगदलपुर की केन्द्रीय स्थिति से समुचित लाभ उठाया जा सकता है।

यह शहर रायपुर से विशाखापटनम जाने वाले राजपथ पर वहां स्थित है। जहां प्रत्येक ऋतु में चलने वाली कई सड़कें इससे मिलती हैं।

4. डोरला जनजाति प्रदेश समीपस्थ आंध्र संस्कृति से प्रभावित हुआ है। अतः यह भाट्रा प्रदेश के समान ही विकसित है। डोरला लोग नारियल के तेल को बहुत पसन्द करते हैं किन्तु किसी भी प्रकार के तिलहन की खेती नहीं करते। ये लोग पास के जगलों से महुए के बीज एकत्रित करते है और इनसे खाने का तेल निकालते है। तिलहनों तथा गन्ने की खेती का सुगमता से विस्तार हो सकता है, तथा नये उद्योग स्थापित करने के लिये वन उपजों का समुचित उपयोग भी किया जा सकता है। एक स्थान जिसका नाम बसागुडा है इस प्रदेश का केन्द्रीय स्थान है और यदि सड़क परिवहन के जाल का ससुचित विकास हो सका, तो इसके औद्योगिक केन्द्र बन जाने की संभावना है।

5. धुरवा (पारजा) जनजाति प्रदेश जगदलपुर तहसील का दक्षिणी सीमा प्रदेश है तथा यह उत्तरी-पूर्वी पठार और साबरी निम्नभूमि के मध्य में स्थित है। दुर्गम भूपृष्ट तथा विस्तृत घने वन आन्तरिक संचार व्यवस्था में बाधक हैं। इन बाधाओं ने यहां की आर्थिक प्रगति को कुण्ठित किया है। किन्तु धुरवा लोगों के बहुत समय से बस्तर के पुराने राजघराने से घनिष्ट सम्बन्द्ध रहे हैं। इस प्रकार ये लोग, अपने समीपवर्ती भैंसा-सिंगी मारिया जाति के लोगों की तुलना में अधिक विकसित हो गये है। ये बांस की चीजें बनाने में बहुत निपुण हैं। इनकी वन-उद्योगों में कार्य-कुशलता का विकास तथा यहां की खनिज सम्पदा की खोज की जावे तो इस प्रदेश की आर्थिक प्रगति संभव हो सकती है।

6. भैंसा-सिंगी मारिया जनजाति प्रदेश, बस्तर के सबसे अधिक पिछड़े क्षेत्रों में से एक है। भैंसे के सींग के इनके लोक नृत्य में प्रयोग ने इन लोगों को यह नाम दिया है। इस प्रदेश का हृदय केन्द्र चारों ओर से पहाड़ियों से घिरे दन्तेवाड़ा बेसिन में है। यह क्षेत्र आंशिक रूप से मैदान है, और आँशिक रूप से पठार है तथा विकसित पड़ोसी क्षेत्रों से इसका बहुत ही सीमित सांस्कृतिक संबन्ध है। बस्तर में सब से अधिक संख्या में हत्या तथा आत्म-हत्या की घटनाएं इसी क्षेत्र में होती हैं। इनके पिछड़ेपन का एक ओर संकेत इस से मिलता है कि यहां हल चलाने वाले जानवरों में गाय का अधिक अनुपात है तथा बैलों को ये लोग प्रायः माँस के लिये मारते हैं।

पश्चिमी अमुझमार के सिवा अन्यत्र कहीं भी वास्तविक बोये हुए क्षेत्र का इतना अधिक भाग मोटे अनाजों के अधीन नहीं हैं। थोड़े से चावल के साथ-साथ यही यहां के निवासियों का मुख्य भोजन है। यह प्रदेश लोहे तथा सम्बन्धित खनिजों में सम्पन्न है जो कि यहां की बैलाडिला पहाड़ियों में पाये जाते हैं। वन पहाड़ी सीमा क्षेत्रों तथा प्रदेश के अन्य भागों पर छाये हुए हैं। पक्की सड़कों का अभाव क्षेत्र के तीव्र आर्थिक विकास में सबसे बड़ी बाधा है।

एक रेल मार्ग अब यहां के बैलाडिला लोह-अयस्क क्षेत्र को विशाखापटनम जलपोताश्रय से मिलाता है। इस रेल मार्ग तथा लोहा खनिज परियोजनाओं के सम्पूर्ण हो जाने पर बहुत से बेरोजगार आदिवासियों में स्थानीय क्षेत्र में चोरी करने की नई लत पड़ गई है। स्पष्ट है कि यदि दूसरे कामों के लिए इनका कौशल न बढ़ाया गया तो ऐसी अस्थाई परियोजनाओं से इन्हें अन्ततः बहुत कम लाभ होगा। यदि उत्तर से एक प्रस्तावित रेलमार्ग, भिलाई और राम्रोघाट से उपर्युक्त रेलमार्ग पर स्थित गीदम रेलवे जंकशन को मिला दे तो दामोदर क्षेत्र का कोकिंग कोयला बैलाडिला में नए 'लोहे-तथा इस्पात' के कारखाने को चलाने के लिए पहुंचाया जा सकता है। गीदम एकत्रीकरण का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाएगा जहां रलों तथा सड़कों द्वारा परिवहन की सुविधाओं से वन उपजें इकटठा की जा सकेंगी।

यदि सड़कों का एक जाल-सा, जैसा कि मानचित्र में सुझाया गया है विकसित हो सका तो दन्तेवाड़ा में लकड़ी की कटाई तथा तत्संबन्धित उद्योगों और गीदम में कागज, दियासलाई तथा कपड़ा मिलों (बाहर से आयात किए हुए धागे पर आधारित) की स्थापना संभव हो जायेगी।

7. एक अवर्गक्रत जनजाति प्रदेश, महानदी के बेसिन पर फैला हुआ है। इस प्रदेश के लोग, अपेक्षाकृत अधिक विकसित समीपस्थ छत्तीसगढ़ी लोगों के सम्पर्क में आते रहते हैं। इस प्रकार बस्तर का यह सबसे अधिक अभिगम्य प्रदेश, सबसे अधिक विकसित प्रदेश भी है। समतल निम्न भूमि, उत्तम मिट्टी और सुगम संचार के साधनों ने इस प्रदेश के विकास में योगदान दिया है। किन्तु इनकी सांस्कृतिक प्रगति का स्तर, मध्यवर्ती भारत के अन्य वन प्रदेशों के निवासियों से अधिक ऊँचा नहीं है।

इस प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था पूर्णरुपेण कृषि पर आधारित है और चावल सबसे प्रमुख फसल है। तालाबों द्वारा सिंचाई का विकास, जिसके लिये स्थानीय भू-आकृति सब जगह उपयुक्त है, इस क्षेत्र में चावल तथा गन्ने की खेती को सुधारने में बहुत सहायक होगा। कोंकर शहर की केन्द्रीय स्थिति भानुप्रतापपुर से आने वाली कच्ची मोटर सड़क और रायपुर-जगदलपुर मुख्य सड़क मार्ग के संगम पर है। यदि पहली कच्ची सड़क को पक्का कर दिया जाये और इस पर पुल बना दिया जाये तो यह स्थान चीनी तथा लाख उद्योग का केन्द्र बन सकता है। ऐसे प्रादेशीकरण के आधार पर उपर्युक्त समस्याओं का समुचित ज्ञान बस्तर के आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण के नियोजन के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान करने में उपयोगी हो सकता है। इस प्रदेश के विकास की मूलभूत आवश्यकता यहां की कृषि को स्थाई तथा अधिक उत्पादक व लाभकारी बनाने की है। संचार तथा परिवहन के साधनों का पूर्ण सम्भव विकास करके, यहां के अविकसित खनिजों तथा वन-संपदा का समुचित उपयोग करना बस्तर की एक और प्रमुख आवश्यकता है। किन्तु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार का आर्थिक विकास इन कार्यक्रम को चलाने में स्थानीय जन समुदाय के नेतृत्व की प्रमुखता को खो न बैठे। इसीलिये यहां की जनजातीय संस्कृति का उन्मूलन प्रगति की इस दौड़ में नहीं होना चाहिए। यहां के जनजाति समुदायों की आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, इन लोगों को उचित शिक्षा प्रदान करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी से अच्छी आर्थिक व्यवस्थाओं को बढ़ावा मिलेगा और उत्तम आर्थिक व्यवस्था उत्तम शिक्षा में भी सहायक होगी।

(ग) बम्बई महानगरीय प्रदेश

दस लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगरों को प्रथम श्रेणी के महानगरों की संज्ञा दी जाती है। सन् 1961 में दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले भारत के सात महानगरों में भारत की कुल नगरीय जनसंख्या का 19% भाग था। सन् 1971 में इस प्रकार के नगरों की संख्या 9 हो गई थी और इनमें भारत की नगरीय जन-

संख्या का 26% भाग था। यद्यपि 1951 के पश्चात् ऐसे नगरों की संख्या में बहुत धीमी वृद्धि हुई परन्तु हमारी नगरीय जनसंख्या की भारी मात्रा इन नगरों में बढ़ती गई।

इस शताब्दी के तीस वर्षों के पश्चात्, भारत में बम्बई जैसे जलपोताश्रय नगरों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, और ये नगर भारत के नगरीय क्षेत्रों में तब से लगातार अपनी प्रधानता बनाए हुए हैं। जलपोताश्रय नगर अन्तर-महाद्वीपीय आयात-निर्यात के साधनों तथा मार्गों की सुविधा का स्थैतिक लाभ उठाते हैं। तत्कालीन अंग्रेजी सरकार भी उस समय इन्हीं नगरों से वस्तुओं का निर्यात करके हमारी संपदा का शोषण करती रही। कल-कारखाने लगाने के लिये मशीनों का आयात करना भी, जलपोताश्रयों के समीप इन नगरों में आसान था। बम्बई में कपड़ा बुनने के कारखानों के केन्द्रीयकरण तथा रेलमार्गों द्वारा इसे देश के अन्य भागों से मिलाने की सुविधाओं ने इस नगर के नगरीयकरण को बढ़ावा दिया है। अधिकाधिक संख्या में ग्रामों तथा छोटे नगरों से आने वाले लोगों के लिये व्यवसाय प्राप्त करने की सुविधा के कारण भी यह नगर एक आकर्षण केन्द्र बना रहा है।

ये सभी सुविधाएं, बहुत समय से इस प्रकार के बड़े नगरों और इनके आसपास के क्षेत्रों में आधुनिक कल-करखानों, श्रमिक लोगों तथा आर्थिक क्रियाकलापों के अधिकाधिक विस्तार को बढ़ावा दे रही हैं। महानगरीयकरण की इस तीव्र प्रक्रिया के काल में, बड़े नगरीय केन्द्रों का विकास ऐसी चरम सीमा तक पहुंच जाता है कि इनका क्षेत्र विस्तार तथा इनकी जनसंख्या वृद्धि, इनके पृष्ठ प्रदेश में स्थित बहुत से छोटे नगरों के विकास को अवरुद्ध कर देती है।
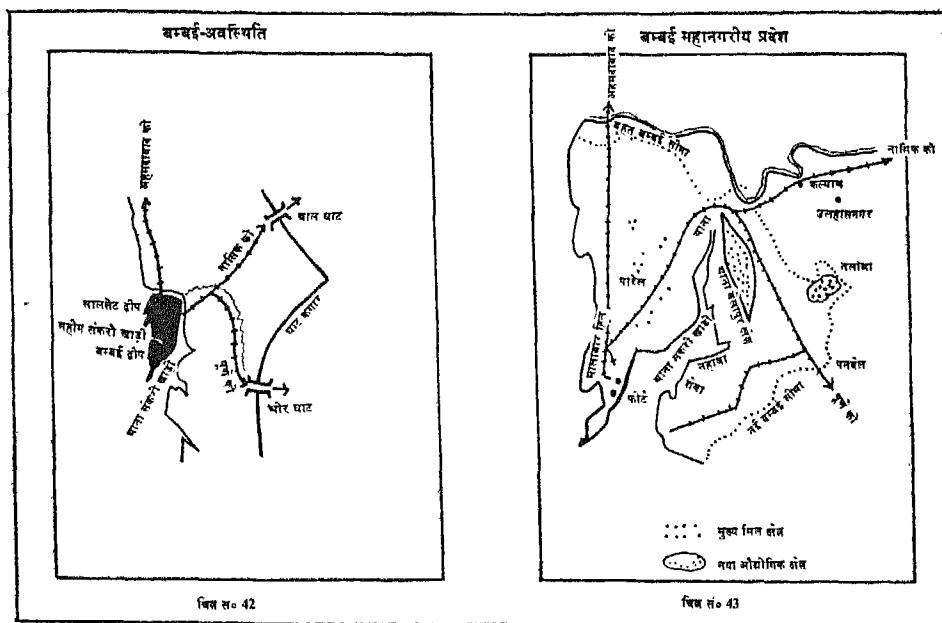
महानगरों की समस्याओं का प्रारम्भ, पड़ोसी क्षेत्रों से, एक विशाल जन राशि के चले आने से होता है। यही जन समूह, महानगरों की सीमित आवास व शहरी सुविधाओं, स्थानीय क्षेत्र, परि-वहन तथा अपूर्ति साधनों और नगर की रोजगार क्षमता, सभी पर, भारी बोझ डालता है। अतः यह सारी समस्याएं महानगर में उत्पन्न न होकर, महानगरीय प्रदेश से उदय होती हैं। इसीलिए यह आवश्यक है कि महानगर की सब विकास गति-विधियों को महानगरीय प्रदेश के परिप्रेक्ष में समझा जाये।

विश्व के अन्य सभी महानगरों के समान, बम्बई का नगर-आकर्षण भी अभिकेन्द्री शक्ति के प्रभाव से अपने मूलकेन्द्र के इर्द-गिर्द उद्योगों, अन्य संस्थानों तथा मनुष्यों की बढ़ती हुई संख्या के केन्द्रीयकरण के कारण बढ़ गया। तत्पश्चात् स्थान की कमी, जीवन-निर्वाह व्यय में अधिकता तथा रेलमार्गों व सड़कों की सुगमता हो जाने के फल-स्वरूप लोगों ने केन्द्रीय भागों से वृत्तीय क्षेत्रों की ओर स्थानान्तरण करना आरम्भ कर दिया। इस प्रक्रिया को अपकेन्द्रीय शक्ति कहते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार के लाभों के लिये यह वांछनीय है कि उत्पादक प्रक्रियाएं तथा उद्योग नगर से बाहर की ओर इसके प्रभाव क्षेत्रों तथा सम्पूर्ण महाराष्ट्र राज्य में फैले हों। इसी प्रक्रिया ने बम्बई नगर की सीमाओं का बृहत् बम्बई महा-नगरीय प्रदेश के रूप में विस्तार किया है। इसका विस्तार बम्बई पोताश्रय से सभी दिशाओं में लगभग 40 किलोमीटर तक है। यदि नगरीय विकास की वर्तमान गति इसी प्रकार चलती रही तो महानगर, सम्पूर्ण अर्ध-नगरीय क्षेत्रों को एक सन्निहित नगरीय प्रदेश में समाकर विशाल नगरीय प्रदेश के रूप में उभर सकता है।

सीमाएं, अवस्थिति तथा भौतिक पर्यावरण

कोंकण के समस्त तटीय निम्न भूमि क्षेत्र पर, दक्षिण में गोवा तक, बम्बई की प्रधानता है। यह थाना तथा कल्याण के उपनगरों से औद्योगिक बस्तियों तथा इनके मध्य लोगों की दैनिक गति द्वारा मिला हुआ है। बम्बई के रेखाचित्र पर आप अब भी एक निचली घाटी (जो कभी ज्वारीय दलदल थी), द्वारा विभक्त दक्खन लावा की दो पहाड़ी पंक्तियों को ढूंढ सकते हैं। वास्तव में यहाँ पर दक्खन लावा से बने छोटे-छोटे सात द्वीप थे,

चित्र-42 उस मूल द्वीप जिस पर बम्बई शहर बसा है तथा आसपास के क्षेत्र की प्रकृति जिससे महानगर जुड़ा हुआ है, पर ध्यान दो।

चित्र-43 बम्बई पोताश्रय तथा इसके गोदी के स्थान को देखो। उनका भौगोलिक महत्त्व क्या है। नए औद्योगिक तथा पत्तन क्षेत्रों को ध्यान से देखो जो नगर में स्थान की कमी को दूर करने के लिए उपयुक्त पाए गए हैं।

जिनके मध्य दलदलीय निचली भूमि को पाट कर, एक दूसरे से मिला दिया गया है। सबसे पहले इस स्थान को 1774 में पोताश्रय बनाने के लिये अधिकृत किया गया। तभी से दलदली भूमि को पाटने के बाद बम्बई के इस 'द्वीप नगर' का जन्म हुआ। शुरू में यह द्वीप एक दूसरे सालसेट नाम के उत्तरी द्वीप से महीम नदी की संकरी खाड़ी द्वारा पृथक होता था। एक दूसरी संकरी तथा तलछट से पटी थाना नाम की खाड़ी, जिसके ऊपर से अब सड़क और रेलमार्ग जाते हैं, उस समय इसे भारतीय भू-खंड से पृथक करतीं थी। महानगर के इस द्वीपीय स्थान के पृष्ठ भाग में दूरस्थ पश्चिमी घाट की पर्वतीय दीवार है तथा मुख्य पोताश्रय के पार-निकटवर्ती पहाड़ियां हैं। (चित्र सं० 42)

यह द्वीप संकीर्ण और तंग है किन्तु इसका 192 वर्ग किलोमीटर गहरे और सुरक्षित जल का पोताश्रय देश में सर्वोत्तम है। प्रारम्भिक बम्बई द्वीप का क्षेत्रफल तो केवल 65 वर्ग किलोमीटर है किन्तु बृहत बम्बई 482 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर फैला हुआ नगरीय प्रदेश है जिसकी जनसंख्य सन् 1961 में 41,52056 और सन् 1971 में 59,70575 थी। यद्यपि सन् 1961 में यह 10 लाखीय जनसंख्या वाले महानगरों में प्रथम स्थान पर था किन्तु सन् 1971 में कलकत्ता सब से अधिक आबादी वाला नगर हो गया। बृहत् बम्बई पानाकार आकृति के क्षेत्र पर बसा है जोकि देश के मुख्य भू-भाग से उच्चतम ज्वार द्वारा पृथक् होता है। इसीलिये इसे कभी 'सालसेट द्वीप' के

नाम से भी जाना जाता है, और कभी इसे प्राय-द्वीप कह देते हैं।

बृहत् बंबई दक्षिण में इस प्रायद्वीप से भी आगे की ओर फैला है जिसमें बम्बई शहर अथवा दूसरे शब्दों में बम्बई द्वीप सम्मिलित है। सबसे पहले शहर यहीं दक्षिणी छोर पर ही बसाया गया था जोकि उत्तर में प्रायद्वीप की ओर विकसित होता गया। यद्यपि अब समुद्र इस द्वीप को प्रायद्वीप से पृथक नहीं करता, किन्तु अभी भी इसे इन्हीं शब्दों से जाना जाता है। भू-भाग की यह पट्टी जिसमें प्रायद्वीप तथा द्वीप (बल्कि 7 छोटे द्वीप) सभी सम्मिलित हैं, उत्तर-पूर्व की ओर थाना जिले तक फैली है थाना एक प्राचीन शहर है जो उस समय भी एक शहर के रूप में था जब बम्बई केवल छोटे-छोटे गांवों का समूह था।

आजकल बृहत् बंबई तथा थाना दोनों ही एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं क्योंकि यहां रेल तथा सड़क मार्गों के साथ-साथ विकसित नगर की एक अटूट पट्टी बृहत् बम्बई को थाना शहर से होती हुई भारतीय भू-खंड से मिलाती दिखाई देती है। पिछले 15 वर्षों में बृहत् बम्बई से थाना की संकरी खाड़ी के उस पार 'मेन लैंड' पर थाना-बेलापुर पट्टी (देखिए चित्र—43) में नये उद्योग स्थापित हो गये हैं। थाना-बेलापुर तथा तलोजा के नये औद्योगिक क्षेत्र और न्हावा-शेवा का मुख्य प्रस्तावित बन्दरगाह पूर्व में मेन लैण्ड पर बम्बई पोताश्रय के दूसरी ओर स्थित है। थाना की खाड़ी के ऊपर सन् 1972 में बने एक नये पुल ने बृहत् बंबई से दक्षिण-पूर्व की ओर प्रधान-मार्ग खोल दिया है।

यह मार्ग नवीन बम्बई क्षेत्र के मध्य से होकर जाता है। इन गतिविधियों के कारण अब बृहत् बंबई (अर्थात् द्वीप+प्रायद्वीप) तथा भारतीय मेन लैंण्ड पर स्थित नये बम्बई क्षेत्र के मध्य पृथकता की रेखा नहीं खींची जा सकती। बृहत् बम्बई—थाना शहर—नई बम्बई सभी 817 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर फैले हैं और तीव्र गति से एक ही संकुल का रूप ग्रहण कर रहे हैं। यही समस्त क्षेत्र अब 'बम्बई महानगरीय प्रदेश' कहा जा सकता है। (चित्र सं० 43)

एक जलपोताश्रय के रूप में बम्बई की भौगोलिक स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। यह दक्षिणी-पश्चिमी एशिया तथा स्वेज नगर के सम्मुख है जो यूरोप को जाने वाला सबसे छोटा समुद्री मार्ग है। भारत के विशाल भू-खंड तथा इस नगर के महा-सागरीय अग्रभाग को थाल घाट तथा भोर घाट (पश्चिमी घाट में 550-580 मीटर ऊँचे दर्रे) आपस में जोड़ते हैं। इन से गुजरते हुए रेल मार्ग बंबई को क्रमशः नासिक तथा पूना से मिलाते है। भोर घाट के ऊपर, आधुनिक उद्योगों के आधार-भूत—जलशक्ति के तीन जलविद्युत उत्पादन केन्द्र हैं। जलविद्युत की उपलब्धि, भारत के विभिन्न भागों और विदेशों से परिवहन सम्बन्ध तथा विदेशी व्यापार ने बंबई नगरीय प्रदेश के विकास को बढ़ावा दिया है।

यद्यपि बंबई जलपोताश्रय का पृष्ठ नगरीय प्रदेश देहली, जबलपुर, नागपुर तथा हैदराबाद के दूरस्थ स्थानों तक फैला है किन्तु इसका निकटतम महत्वपूर्ण प्रभावित क्षेत्र पूर्व में माथेरन तथा दृष्टि-गोचर होता है। माथेरान पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर 760 मीटर की ऊँचाई पर स्थित एक पहाड़ी स्थान है। यहां तक कि भोर घाट तक अर्थात् पश्चिमी घाट के शिखर तक यहां के जल-विद्युत वितरण केन्द्रों ने इस समस्त क्षेत्र को बम्बई का ही सहायक क्षेत्र बना दिया है बन्दरगाह से भारतीय मेन लैण्ड को जाने वाले मार्गों के संगम पर स्थित थाना और उल्हास नदी क्षेत्र के मार्गों के केन्द्र बिन्दु पर स्थित कल्याण, को दोनों स्थान, बंबई के क्रमशः उत्तरी तथा पूर्वी उपाश्रित नगर हैं। पुणे को जाने वाले मार्ग पर स्थित पानवेल इस महानगर के प्रभाव क्षेत्र की दक्षिणी-पूर्वी सीमा निर्धारित करता है।

नगरीय बनावट—कार्यात्मक क्षेत्र

शहर का भौगोलिक केन्द्र जिसको 'केन्द्रीय कार्यरत क्षेत्र' कहते हैं, लम्बे तथा संकरे बम्बई

द्वीप के दक्षिणी छोर पर गिरगांव तथा मजगांव के मध्य में है। आन्तरिक प्रदेश के किसी भी बड़े शहर में, 'केन्द्रीय कार्यरत क्षेत्र' इस प्रकार की केन्द्रीय स्थिति का एक ऐसा क्षेत्र होता है जिसके विस्तार की संभावनाएं सभी दिशाओं में रहती हे। किन्तु बम्बई की विचित्र भौगोलिक तथा ऐतिहासिक स्थितियों के कारण, इसका बम्बई केन्द्रीय क्षेत्र केवल उत्तर की ओर को ही विकसित हो सकता है। जनसंख्या का घनत्व यहां सबसे अधिक है और 1.02,400 से लेकर 1,79,200 व्यक्ति, प्रति वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर रह रहे है। यही वास्तव में शहर का मुख्य भाग है जोकि द्वीप के सबसे दक्षिणी छोर का निकटतम उत्तरी भाग है। इसके उत्तर पश्चिम में, एक छोटी-सी खाड़ी के शीर्ष पर चौपाटी बालु पटी और मालाबार की पहाड़ी स्थित है। यह पहाड़ी अमीर लोगों के मकानों से ढकी है। पूर्व की ओर मजगांव तक छोटे व्यापार, दस्तकारी तथा बाजारों के घने बसे हुए क्षेत्र हैं।

(2) निचली बंबई में स्थित दुर्ग अर्थात 'फोर्ट' प्रारंभिक आँग्ल आवास तथा पुराने नगर का वास्तविक केन्द्रीय स्थल है। इसके चारों ओर सार्वजनिक भवन, बड़े व्यापारिक संस्थान, बैंक, कार्यालय, मुख्य दुकानें तथा निर्धन लोगों के आवास हैं। इसके पश्चिमी भाग के पार सुप्रसिद्ध मैरीन हिल और इसके साथ-साथ, सागर के किनारे मैरीन ड्राइव सड़क दोनों देखे जा सकते है। क्षेत्र के इस पश्चिमी भाग में खुले मैदान, पार्क, मध्यम तथा उच्च वर्ग के लोगों के आवास गृह तथा शिक्षा संस्थाएं हैं। अब इस भाग में नगर की जनसंख्या का न्यूनतम घनत्व 7680 मनुष्य प्रति वर्ग किलोमीटर का है।

(3) उत्तर की ओर नगरीय विकास छितरा है जिसमें कही-कहीं घने बसे पारेल तथा दादर जैसे औद्योगिक भवनों का संकेन्द्रण है। यही बम्बई के कारखानों का मुख्य क्षेत्र है। (चित्र—43) जिनमें औद्योगिक उपनगर तथा श्रमिकों के आवासीय भवनों की भीड़ दूर तक फैलती चली गयी है। इस क्षेत्र से गुजरने वाले मुख्य रेलमार्गों के पश्चिम में उद्यानों वाली नगरीय बस्तियां, धनी वर्ग के आवास गृह तथा क्लब है जैसे कि अन्य बड़े नगरों के बाहरी प्रदेश में प्राय: देखे जाते हैं। द्वीप के उत्तर-पूर्व में दलदली भूमि, समुद्री खारे पानी के गड्ढे तथा धान के खेत देखने में आते हैं। इन दलदलों के दूसरी ओर ट्रोम्बे द्वीप है जिस पर भारत का प्रथम अणु-संस्थान केन्द्र स्थित है।

जलपोताश्रय तथा उद्योग

बंबई अभी भी हमारा पश्चिमी सागर तटीय प्रमुख जलपोताश्रय है। द्वीप के पूर्वी भाग में इसके लगभग आठवें भाग बहुत से गोदी-बाड़े स्थित हैं। इस जलपोताश्रय क्षेत्र में लगभग 8 किलोमीटर की सीधी रेखा में, उत्तर में सेंवरी से दक्षिण में सिकन्द्रिया तक गोदी-बाड़ों की शृंखला सी है। यह गोदी-बाड़े तेल-वाहकों, भारी भरकम सामान के लदान-उतार तथा यात्रियों के यातायात को संभालते हैं। यहाँ पर कपास, कपास से निर्मित सामान, तिलहन तथा मैंगनीज निर्यात मुख्य सामान हैं। खनिज तेल, अनाज, औद्योगिक कच्चामाल, मशीनें तथा अन्य निर्माण हेतु सामान आयात की मुख्य वस्तुएं हैं। यहां के तीन प्रमुख तथा कार्यरत गोदीबाड़े प्रिंस, विक्टोरिया तथा सिकन्द्रिया हैं। इनमें पर्याप्त गहरा पानी है, एक लम्बा सागरीय अग्रिम स्थान तथा पर्याप्त संख्या में आवश्यक स्थापनाएं हैं। इस समस्त क्षेत्र को पोर्ट ट्रस्ट रेलवे की 193 किलोमीटर लम्बी रेलवे लाईन यातायात की सुविधा प्रदान करती है।

इस महानगरीय प्रदेश में उद्योगों की बहुत अधिक विभिन्नता है। इनमें कपड़ा उद्योग की प्रधानता है। वस्त्र उद्योग के सबसे पुरानी तथा सबसे अधिक संख्या के कारखाने पारेल में है जहां पर प्रारंभिक समय में भूमि सस्ती थी। इस उद्योग के लिए बम्बई को जो सुविधाएं हैं उनकी पुनर्रावृत्ति करना यहां आवश्यक नहीं हैं।

दूसरे स्थान पर यान्त्रिक उद्योग हैं जो अधिकतर जलपोताश्रय तथा रेलों के समीप मजगांव में हैं। इन में से बहुत से तो कपड़ा उद्योगों के

लिये यन्त्र बनाते है। छपाई के कारखाने अधिकतर दुर्ग (फ़ोर्ट) के समीप के व्यापारिक क्षेत्र में है। खाद्य पदार्थ, रासायन तथा दवाइयों और मोटरों का निर्माण व संयोजन तथा और अनेक उपभोक्ता वस्तुएं बनाने के कारखाने इस महानगर के बाजारों की आवश्यकता पूर्ति करते है। बम्बई की उत्तरी सीमांत बस्तियों में बने चलचित्र संस्थान सम्पूर्ण भारत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

बृहत् बम्बई के इस कोयले की कमी वाले प्रदेश में उद्योगों तथा रेलों के लिये ऊर्जा की आवश्यकता पूर्ति के लिये 1927 में यहां जलविद्युत योजनाओं का विकास किया गया। लोनावाला, नीला मुला तथा आंध्र घाटी की तीन बहुत प्राचीन जलविद्युत योजनायें उत्पादन केन्द्र हैं। घाट के पहाड़ों के दूसरी ओर के ढाल पर पूर्व की ओर को बहने वाली छोटी-छोटी नदियों के पानी को जलाशयों में रोककर, सुरंगों द्वारा पश्चिम और की पहाड़ियों की तलहटी में ले जाकर खोपोली, त्रिवपुरी तथा भीरा के तीन जलविद्युत उत्पादन केन्द्रों पर इस जल राशि को 500 मीटर से अधिक ऊँचाई से गिराया गया है। इन सब शक्ति उत्पादक केन्द्रों की कुल क्षमता 2,00,000 किलोवाट है। ये शक्ति उत्पादन केन्द्र इस महानगरीय प्रदेश के उद्योगों के लिये मेरूदण्ड का कार्य करते हैं। ये बंबई से 120 किलोमीटर से कम दूरी पर स्थित हैं। इस घाट प्रदेश में हाल ही में कुछ और अधिक योजनाएं कार्यान्वित की गई हैं जिनमें रत्नागिरि जिले की कोयला योजना सबसे बड़ी है। यहां से अन्ततः 5,40,000 किलोवाट विद्युत शक्ति मिलेगी।

शहर से दूर बृहत् बंबई में धातुओं, दवाइयों, रसायनों, दूध से बनी और चमड़े की वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों का तारतम्य, थाना तथा महीम नदी से भी आगे कल्याण की ओर चला गया है। एक प्रकार से, सस्ते परिवहन तथा जलविद्युत के कारण प्रारंभिक सालसेट द्वीप अब बम्बई का एक पूरक उप-क्षेत्र बन गया है।

बंबई महानगर की समस्याएं तथा योजनाएं

बंबई शहर में नगरीय तथा औद्योगिक प्रक्रियाओं का अनियन्त्रित विकास हुआ है। इसने यहाँ की जनसंख्या को जो 1901 में 8,12,912 थी, बढ़ाकर 1971 में 59,70,575 कर दिया है। जनसंख्या का घनत्व का अन्तर 7680 मनुष्य प्रति वर्ग किलोमीटर से लेकर 1,79,200 मनुष्य प्रति वर्ग किलोमीटर तक है। यदि जनसंख्या की वृद्धि भविष्य के लिये स्थिर हो सकी तो विकास कार्यों में पूंजी निवेश की वृद्धि से नगरीय स्थिति में सुधार किया जा सकता है। बृहत् बम्बई की 1948 की प्रथम नगरीय योजना में यह प्रस्ताव रखा गया था कि शहर के केन्द्रीय क्षेत्र से कारखानों को धीरे-धीरे हटा कर बाहरी क्षेत्रों में, आगरा जाने वाली सड़क तथा पश्चिमी रेलवे के साथ साथ स्थापित किया जाये।

जनसंख्या की सीमा सन् 1948 में, 37 लाख निर्धारित की गई थी। किन्तु सन् 1958 में बृहत् बंबई की जनसंख्या इससे बढ़ गई। दूसरी विकास योजना के अनुसार सन् 1964 में बृहत् बंबई के लिये 80 लाख जनसंख्या का लक्ष्य निर्धारित किया गया, जिससे अधिक वृद्धि सन् 1982 से पहले ही हो जायेगी। विश्व भर के बड़े-बड़े नगरों की जनसंख्या की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की बात, इस पर अमल करने की अपेक्षा, कहीं अधिक सरल है। ऐसा लगता है कि बंबई की जनसंख्या वृद्धि की यही गति रही, तो यह जनसंख्या एक करोड़ बीस लाख से भी अधिक बढ़ जायेगी। दूसरी ओर यदि नये उद्योगों तथा आवासों के निर्माण की योजना अभी से बना कर कार्यान्वित की जाये तो सन् 1991 तक यह एक करोड़ से कम रखी जा सकती है।

आरंभ में ऐसा समझा गया कि शहर में उद्योगों के विकास तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ते हुए अपूर्ण रोजगार के कारण ही लोग गांवों से निकल कर इस महानगर की जनसंख्या को बढ़ा रहे हैं। किन्तु यहां जनसंख्या में श्रमिकों

का अनुपात सन् 1951 में 47 प्रतिशत से घट कर सन् 1971 में 37 प्रतिशत हो गया है। इसके साथ ही गांवों की बढ़ी हुई जनसंख्या पूर्ववत् अपने निम्न जीवन स्तर पर पहले जितनी कृषित भूमि पर ही निर्वाह किए जा रही है।

अब बंबई जैसे बड़े-बड़े शहरों में रोजगार के इच्छुक लोगों को रोजगार की बहुत संभावनाएं नहीं मिल पातीं। जिस कारण ग्रामों से रोज़गार के सुअवसर प्राप्त करने के उद्देश्य से लोगों का शहर की ओर स्थान्तरण पहले से बहुत कम है। परन्तु इन बड़े शहरों में यदि नये रोजगारों में वृद्धि होती है तो और अधिक लोग यहाँ आयेंगे। एक आधारमूलक औद्योगिक क्रिया यदि एक नया रोजगार उपलब्ध कराती है तो इससे कई और सहायक रोज़गार जन्म लेते हैं जो अधिक लोगों को आकर्षित करने लगते हैं।

बृहत् बंबई में लिंग भेद अनुपात का विकास 1951 में 596 स्त्रियाँ प्रति हजार मनुष्य से बढ़ कर 1971 में 716 प्रतिशत हो गया था। यह एक और बात का संकेत देता है। यह स्पष्ट करता है कि यद्यपि अब श्रमिक बहुत संख्या में इस नगरीय प्रदेश की ओर न भी जा रहे हों तो भी नये तथा नियमित रोजगारों का सृजन किसी भी तरह समाप्त नहीं हुआ। रोज़गार के ऐसे नये अवसरों ने नगर में, जनसंख्या, नये आवास स्थलों, स्त्रियों का अपना श्रमिक संबंधियों के पास आना तथा लिंग भेद अनुपात में विकास सभी को बढ़ाया है।

अतः जनसंख्या की कुछ वृद्धि तो होती ही रहेगी। इस प्रदेश से सभी सम्भावित उद्योगों को हटाकर अन्यत्र महाराष्ट्र या भारत के दूसरे भागों में ले जाना भी असंभव है। यद्यपि भारत के औद्योगिक कार्यकर्ताओं की कुल संख्या तथा कुल निर्मित सामान के मूल्य दोनों का 20 प्रतिशत महाराष्ट्र के बृहत बम्बई-थाना क्षेत्र तक सीमित है, फिर भी इस सकेन्द्रण को न तो हटाया ही जा सकता है और न इसे सम्पूर्ण रूप से हटाना ही चाहिए।

बंबई का महत्व यहां के दुर्ग क्षेत्र में इसके जलपोताश्रय के सामरिक महत्व से आरंभ हुआ था। समय बीतने पर व्यापार, परिवहन, निर्माण उद्योगों तथा राजकीय सेवा-कार्यों में वृद्धि ने इस नगरीय संकुल के आकार को बढ़ा दिया। उद्योगों के कुछ समूह ऐसे होंगे जो एक-दूसरे के समीप होने के कारण लाभान्वित होते रहेंगे। यह देखा गया है कि यदि जल तथा शक्ति साधनों की उपलब्धि, परिवहन और व्यर्थ पदार्थों के निकास की व्यवस्था का व्यय कम हो सके तो विभिन्न स्थानों पर स्थित उद्योगों के व्यय में भी अधिक अन्तर नहीं रहेगा। इस विवेचना से तुम्हें स्पष्ट हो गया होगा कि इस महानगर की समस्याओं के समाधान के लिए भविष्य में उद्योगों को उचित स्थानों पर सुनियोजित तरीके से चलाना होगा।

थाना-बेलापुर क्षत्र में स्थिति पेट्रो-रासायन उद्योगों तथा बंबई प्रदेश में अन्यत्र जलपोत-निर्माण और जनसंख्या पर आधारित उद्योगों में नये रोजगार अभी भी संभव हैं। नये उद्योगों के संकेन्द्रण को, प्रमुख महानगरीय क्षेत्र से दूर, कुछ चुने हुए क्षेत्रों में योजना-बद्ध ढंग से स्थापित करने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य के लिये बृहत् बंबई की सीमाओं के अन्दर मुख्य द्वीप के उत्तर में स्थिति बान्द्रा-कुरला क्षेत्र उद्योगों तथा जनसंख्या के विस्तार के लिए उपयुक्त समझा गया था। निचले बम्बई क्षेत्र और शहर के केन्द्र स्थित दुर्ग से अन्य स्थानों तक सस्ती परिवहन व्यवस्था ने लोगों की दैनिक गति को सुगम बनाने में सहायता की। किन्तु यह क्षेत्र छोटा है तथा इसमें और अधिक संस्थाओं की स्थापना की संभावना बहुत सीमित रह गई है। यहाँ तो पहले ही इतना विस्तृत जलपोताश्रय निर्मित है और शेष क्षेत्र का बहुत-सा भाग सड़कों तथा रेल मार्गों के नीचे है।

अब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि एक नया महानगर मेन लैंण्ड पर बनाया जाए जो पुराने द्वीपीय शहर से भी अधिक दूरी पर न हो। ऐसा समुचित स्थान थाना की खाड़ी के दूसरी ओर दक्षिण-पूर्व में नये बम्बई क्षेत्र का है। यहां शेवा

तथा न्हावा के दो प्राकृतिक जलपोताश्रय स्थान भी उपलब्ध हैं। थाना-बेलापुर तथा तलोजा में औद्योगिक विकास कार्य पहले से ही आरंभ हो चुके हैं। यदि इस नये स्थान पर यह निर्माण कार्य योजना-बद्ध ढंग से किया जाये तो यह विकास बृहत बम्बई के महत्व को कोई ठेस नहीं पहुंचायेगा। कुछ लोगों ने यह भी सुझाव दिया है कि महाराष्ट्र राज्य सचिवालय को इस क्षेत्र में ले आया जाए जिससे इस का महत्व बंबई के भावी महानगरीय प्रदेश के ही अन्तर्गत और अधिक बढ़ जायेगा। यहां पर नए कारखाने, एक छोटा सा व्यापारिक खंड, राजकीय कार्यालय तथा आवासीय मकानों के निर्माण के लिए पर्याप्त स्थान है।

बड़े स्तर पर लोगों के दैनिक आवागमन को कम करने के लिए, यहां पर कार्य स्थान तथा लोगों के निवास स्थान को एक दूसरे के निकट बनाना संभव होगा। अभी भी बंबई के विकसित क्षेत्र के एक तिहाई भाग पर रिहाइशी मकान बने हैं और लगभग एक चौथाई भाग उद्योगों तथा व्यापारिक क्षेत्रों के अन्तर्गत आता है। इस नये बंबई क्षेत्र को एक दूसरे महानगरीय केन्द्र की स्थापना के लिये स्वीकार कर लेने से इसी अनुपात में बम्बई नगर की खर्चीली तथा दुर्लभ भूमि की बढ़ती हुई मांग कम हो जायेगी।

इस प्रकार बृहत बंबई में आवश्यक तथा स्थिति-बद्ध उद्योगों में और नये रोजगार उत्पन्न करके इस महानगरीय प्रदेश की आर्थिक कठिनाइयां कम की जा सकती हैं। इसके साथ-साथ उद्योग-शालाओं, रिहाइशी भवनों तथा कार्यालयों के सकेन्द्रण के लिये समीप के नये स्थानों को विकसित करने की आवश्यकता है। नगरीय प्रदेश की योजना के अतिरिक्त, उद्योगों का राज्य के अन्य भागों में विकेन्द्रण तथा इसके ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की ओर भी ध्यान देना होगा।

स्वाध्याय

पुनरावृत्ति प्रश्न

1 निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षेप में उत्तर दो :

(i) दामोदर नदी को 'दुःखों की नदी' क्यों कहते हैं ?

(ii) प्रादेशीय संपदाओं के विकास में 'दामोदर घाटी परियोजना' किस लिये महत्वपूर्ण है ?

(iii) छोटा नागपुर के दामोदर नदी के बेसिन की, पश्चिम जर्मनी के 'रूहर प्रदेश' से तुलना क्यों की जाती है ?

(iv) बस्तर के जनजातीय खंड का विकास क्यों कठिन रहा ?

(v) बम्बई को एक द्वीप, सालसेट द्वीप और कई बार प्रायद्वीप क्यों कहा जाता है ?

(vi) महानगरों के विकास में सहायक अपकेंद्री तथा अभिकेंद्री शक्तियों से क्या अभिप्राय है।

2. अन्तर स्पष्ट कीजिये :

(i) विशाल बम्बई, नयी बम्बई, तथा महानगरीय बम्बई प्रदेश।

(ii) महानगर तथा विशाल नगर

(iii) जल विद्युत के लिये बांध तथा नदी अवरोधक बांध

(iv) एक नगरीय प्रदेश तथा एक जनजातीय खण्ड

(v) कृषि-आधारित तथा खनिज-आधारित औद्योगिक संकुल

3. दामोदर नदी का बेसिन अपने कोयला क्षेत्रों तथा अन्य खनिजों के लिये क्यों अधिक प्रसिद्ध है ?

4. बस्तर की जनजातीय जनसंख्या को मुख्यतया अन्य सबसे पृथक् रखने वाले कारकों का वर्णन कीजिये।

5. 'बम्बई महानगरीय प्रदेश' की समस्याओं की ओर संकेत कीजिये।

6. (i) दामोदर बेसिन के कौन से भाग खूब घने बसे हुए हैं तथा किन भागों में खूब शहरीकरण हुआ है, और क्यों ?

(ii) दामोदर बेसिन को विकसित संपदाओं, और बस्तर जनजातीय प्रदेश की संभावित संपदाओं का संक्षेप में उल्लेख करो।

7. बस्तर जनजातीय खण्ड को धरातलीय भागों में बांटों और हर एक जनजातीय-सांस्कृतिक भाग में प्राकृतिक परिस्थितियों का मानव जीवन पर प्रभाव बताओ ?

स्वयं करो और ढूंढो

8. (i) दामोदर बेसिन का एक मानचित्र बनाओ जिसमें नदियां, बांधों की स्थितियां, कोयला क्षेत्र, प्रमुख सिंचित क्षेत्र और नगर दिखाये गये हों।

(ii) बम्बई प्रदेश का एक मानचित्र बनाओ जिसमें इसकी सीमाएं, जलपोताश्रय क्षेत्र, प्रमुख रेलमार्ग, व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र, अर्धनगरीय तथा उपनगरीय केन्द्र दिखाये गये हों। इनका स्थिति संबंधित महत्व भी बताइये।

9. निम्नलिखित 'संकेत शब्दों' की सहायता से तीनों में से प्रत्येक के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :

(i) दामोदर बेसिन : तीखे ढाल की कगारें, द्रोणिका भ्रंश, दरारघाटी, दामोदर नदी, जलविद्युत के लिये बांध, कोयला क्षेत्र, यातायात के मार्ग ?

(ii) बम्बई महानगरीय प्रदेश : महानगरीय नगर, केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण की प्रक्रियाएं, बम्बई पोताश्रय, थालाघाट तथा भोरघाट, केन्द्रीय व्यापारिक क्षेत्र, नगरीय, अर्धनगरीय तथा उपनगरीय भाग।

(iii) बस्तर का जनजातीय खण्ड :
महाद्वीपीय आन्तरिक स्थिति, भौतिक तथा सांस्कृतिक विभिन्नताएं, स्थानान्तरी कृषि, संपदाओं का बहुत कम विकास।

परिशिष्ट-III

भारत के प्रमुख औद्योगिक प्रदेश

मुख्य औद्योगिक प्रदेश	(क) बिहार-बंगाल उद्योग पट्टी	(ख) बम्बई-पुणे	(ग) अहमदाबाद बड़ौदा	(घ) मदुरै-कोयम्बेटूर बेंगलूर
मुख्य उद्योग	(1) हुगली क्षेत्रीय जूट, सूती कपड़ा, विद्युत यंत्र हल्के यांत्रिक तथा रसायन। (2) छोटा नागपुर क्षेत्रीय लोहा-इस्पात, तार, यातायात वाहन।	सूती वस्त्र (एक तिहाई से अधिक श्रमिक) रसायन यांत्रिकी, खाद्य सामान, छपाई, हल्के यंत्र, उपभोगता वस्तुएं।	सूती कपड़ा, रसायन।	सूती कपड़ा, हलके उपभोगता पदार्थ हल्के यंत्र।
कोयला	दामोदर	प्रारंभ में इंगलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका से समुद्र मार्गों द्वारा, अब दूर बिहार से।	दूर बिहार से, हाल में कुछ खनिज तेल तथा गैस प्राप्त।	दूर बिहार से।
जलविद्युत शक्ति	हाल में कुछ दामोदरघाटी परियोजना से प्राप्त।	पश्चिमी घाट से महत्वपूर्ण आपूर्ति	—	कावेरी, जोग तथा नीलगिरी क्षेत्र से।
लोह अयस्क	सिंहभूम	—	—	बाबाबुदन पहाड़ियों के अयस्क पर आश्रित छोटे लोहा-इस्पात कारखाने

अन्य कच्चा सामान प्राय: कृषि से	बंगाल जूट जल मार्गों द्वारा और दामोदर क्षेत्र में कोयला (परन्तु बहुत सा उत्तम जूट क्षेत्र अब बंगला देश में)।	कपास, मूंगफली पूर्व में पठार की रेगड़ मिट्टी के क्षेत्र से।	कपास स्थानीय रेगड़ मिट्टी के क्षेत्र से। समुद्री नमक।	कुछ कपास मदुरै और कोयाम्बेटूर रेगड़ मिट्टी क्षेत्र से।
पत्तन तथा व्यापार	कलकत्ता (यूरोपियन मैनेजिंग एजेंसी व्यवस्था द्वारा नियंत्रित व्यापार समेत)	बम्बई (पारसी और गुजराती व्यापारियों की गति-विधियों समेत)	स्थानीय व्यापार (मारवाड़ी और गुजराती व्यापारियों की गतिविधियों समेत)।	मद्रास पत्तन, स्थानीय व्यापार तथा कुछ दूर के उद्योग भी।
बाजार	विस्तृत शहरी बाजार। हुगली पट्टी।	पहले चीन को निर्यात, बाद में विस्तृत स्थानीय नगर बाजार।	स्थानीय बाजार महत्वपूर्ण।	

लघु औद्योगिक क्षेत्र	**उद्योगों के नाम**
असम घाटी	स्थानीय चाय, धान और तिलहन का प्रक्रमण, कुछ पेट्रोलियम।
दार्जिलिंग तराई	स्थानीय चाय प्रक्रमण
उत्तरी बिहार-उत्तर प्रदेश	स्थानीय गन्ने से निर्मित चीनी
मैदान देहली-मेरठ	स्थानीय गन्ने से चीनी बनाना, कुछ वस्त्र उद्योग, रसायन, यांत्रिकी।
नागपुर-वर्धा	छोटे वस्त्र कारखाने, लोहा भट्टियां, रेलवे तथा सामान्य यांत्रिकी, कांच तथा मिट्टी के बर्तन।
इन्दौर-उज्जैन	स्थानीय कपास स्थानीय बाजारों के लिए, दस्कारी (पुराने राजसी दर्बारों से प्रोत्साहित)
धारवार-बेलगाम	सूती कपड़ा, स्थानीय तथा अन्य बाजार, रेलवे तथा सामान्य यांत्रिकी।
गोदावरी-कृष्णा डेल्टा	स्थानीय तम्बाकू, गन्ना, धान कूटना तथा तेल निकालना, सीमेंट, छोटे वस्त्र कारखाने।

कानपुर	तैयार वस्त्र, कपड़ा, बड़े आधुनिक चर्म शोधन, चमड़े की वस्तुएं, जूते, सैनिक आवश्यकताओं से प्रारंभ।
मद्रास	कपड़ा, हलके यंत्र, अनेक उपभोक्ता वस्तुएं।
मालाबार तट क्यूलोन त्रिचूर	काजू, अक्रमर्ण, कोपरा तथा अन्य तेल निकालना, इनसे संबंधित उद्योग (साबुन तथा नारियल का रेशा बनाना) कुछ वस्त्र निर्माण, घने आबाद तटीय क्षेत्र में अनेक हस्तकलाएं।
शोलापुर	रेगड़ मिट्टी से उत्पन्न कपास पर आश्रित महत्वपूर्ण वस्त्र उद्योग तथा यांत्रिकी सामान केन्द्र।

अल्प औद्योगिक क्षेत्र

यह देश भर में फैले हुए हैं। इनका विकास स्थानीय शक्ति साधनों और स्थानीय विकास बाजार की आवश्यकताओं से संबंधित रहा है।

आगरा	उत्तरी अरकाट
अमृतसर	त्रिनेलवेली
ग्वालियर	रायपुर
निज़ामाबाद	रामपुर
आदिलाबाद	भंडारा
(हैदराबाद)	रामनाथपुरम्
जम्मू	कच्छ
जबलपुर	कटक

स्मरण रहे कि इनमें से बहुत से क्षेत्रों में उद्योग विकसित न हो कर अभी केवल नवजात अवस्था में हैं।

नोट : तीनों प्रकार के औद्योगिक प्रदेशों की स्थितियां मानचित्र सं० 27 पर किसी मानचित्रावली की सहायता से ढूंढी जा सकती हैं।

परिशिष्ट-IV

पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के संदर्भ

पारख भ० स० भारत विकास की ओर, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् भारत सरकार, दी गजेटियर आफ इण्डिया, भाग 3, शिक्षा मंत्रालय, नई देहली, 1975

सिंह जस्बीर, ग्रीन रेवील्यूशन इन इण्डिया/एग्रीकलचरल एटलस आफ इण्डिया, विशाल पब्लीकेशन्स कुरुक्षेत्र, 1974

भारत सरकार, रिपोर्ट आफ नेशनल कमीशन आन एग्रीकल्चर, भाग 2 तथा 4, कृषि मंत्रालय, 1976

गिल, के० एस०, एवेलूशन आफ इण्डियन इकानोमी, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 1977

सिन्हा, ब० न०, इन्डस्ट्रीयल ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, दी वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट लि० कलकत्ता, 1972

अहमद अनायत, बिहार, रांची यूनीवर्सिटी, 1965

स्पेट, ओ० एच० के० स्पेट एण्ड लरमान्थ, ए० टी० ए०, इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, मैथुएन एण्ड को० लिमिटिड, लंदन, 1967

नेकरासोव, टैरेटोरियल अरगेनाइजेशन आफ सोवियत इकोनमी, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1974

सेन्सस आफ इण्डिया, इकोनामिक एण्ड सोशेकल्चरल डाइमेन्शनज आफ रिजिनलाइजेशन, 1971

अग्रवाल पी० सी० ह्यमेन ज्योग्राफी ऑफ बस्तर

मिश्रा आर० पी०, सुन्दरम, के० वी० एण्ड प्रकाश राव, वी० एल० एस०, रीजनल डिवेलपमेन्ट प्लेनिंग इन इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लि०, देहली, 1976

रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इण्डिया, पापूलेशन ऑफ इण्डिया, 1974

(सी० आई० सी० आर इ० डी० सीरीज)

इण्डिया, ए० रेफरेन्स एनुअल 1976, पब्लीकेशनज डिवीजन, नई देहली, 1976

अहमद फ़खरुद्दीन, हू इज किलिंग इण्डियाज फ्यूचर, सांइस टूडे, बम्बई, अगस्त, 1973

कमाक्ट, एम० एन्ड्रू, दी ट्रापिक्स एन्ड इकोनामिक डिवेलपमेन्ट, डिवेलपमेन्ट डाइजेस्ट, वाशिंगटन, डी० सी०, भाग XV, जुलाई 1977

पटेल ब० शिरिश, मेट्रोपालिटन बम्बई, क्वेस्ट, बम्बई, न० 88, मई, जून, 1974।